❁ श्रीराधारमणो जयति ❁

❁ जयगौर ❁

रचयिता—

'श्रीबलदेव 'विद्याभूषण'

SHRI KESHABJI GOUDIYA MATH
Mathura (U.P.)

प्रमेयरत्नावली

श्रीवलदेवविद्याभूषणविरचिता

पण्डितप्रवर-

श्रीकृष्णदेववेदान्तवागीशविरचित-

कान्तिमालाख्यटीकान्विता

सा च

व्यवस्थारत्नोपाध्यलङ्कृतश्रीकृष्णचैतन्यगोस्वामिना

तथा च

श्रीहेमाङ्गगोस्वामिशास्त्रिणा भाषान्तरं प्रापिता

सेयं

श्रीगौरकृष्णगोस्वामिशास्त्रिकाव्यतीर्थेन

सपरिष्कारं संशोधिता

सा च

प्रेममण्डल संस्थापक—महन्तश्रीविहारिदासचरणाश्रितेन-

श्रीमद्वृन्दावनान्तःपाति श्रीराधारमणमन्दिरवास्तव्येन-

श्रीदीनवन्धुदासवैष्णवेन प्रकाशिता

॥ ॐ नमो भगवते श्रीगौरचन्द्राय ॥

ग्रन्थकर्ता-परिचय

प्रस्तुत-ग्रन्थ के रचयिता श्रीमन्माध्वगौडेश्वर-सम्प्रदाय-विभूषण श्रीबलदेव विद्याभूषणजी ने पूर्ववङ्ग के किसी विप्र-कुल को कृत-कृत्य किया था। पहिले आप शैव या स्मार्त (जैसे वंगीय-ब्राह्मण हुआ करते हैं) थे बाद में आप वैष्णव-धर्म में दीक्षित होकर श्रीवृन्दावन आये। ये श्रीमन्महाप्रभुजी के अनन्य-पार्षद श्रीश्यामानन्द प्रभु के प्रियतम शिष्य श्रीरसिक-मुरारीजी के परात्पर-शिष्य थे। श्रीवृन्दावन आकर आपने सम्भवतः श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीजी से वेषाश्रय ग्रहण किया था। आपका वेश नाम था 'श्रीगोविन्ददास'। श्रीचक्रवर्तीजी के समीप ही स्थित होकर आपने समस्त भक्ति-शास्त्र, रस-शास्त्र आदि का अध्ययन किया तथा श्रीचक्रवर्तीजी के विकसित पर-कीया वाद में आपने विशेष विचक्षणता प्राप्त की तथा कई अवसरों पर आपने उक्त वाद स्थापित भी किया। आपका सिद्धान्त था कि जिस प्रकार पूर्ण भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी भोग्य अंश आल्हादिनी शक्ति को अपने से पृथक् व्रज में उत्पन्न कर उसका आस्वादन किया था, वैसे ही जीव भी तो श्रीभगवान् की तटस्था शक्ति है और प्रपञ्च में बद्ध है, परन्तु जबतक कि वह उन्हीं श्रीराधा की भाँति आर्तियुक्त होकर भगवान्

को न खोजेगा तब तक उसका निस्तार शीघ्रातिशीघ्र न होगा, यही सब से सीधा-मार्ग है।

सं० १६६६ खृष्टाब्द में अम्बरराज द्वितीय जयसिंह ने अपनी नयी राजधानी जयपुर में बसाई, उसी के लगभग इस सम्प्रदाय के ऊपर कुछ कलिकालुष्यपूर्ण-जनों द्वारा एक उत्पात उठाया गया। उनका प्रधान उद्देश्य यह था कि इस सम्प्रदाय को पन्थाई ठहराकर उड़ा दिया जाय तथा श्रीगोविन्द, श्रीगोपीनाथ श्रीमदनमोहन आदि विग्रह जो उस समय जयपुर ही में विराजते थे, उन सबको हथियाया जाय, इस समाचार को सुनकर श्रीचक्रवर्तीजी जो अत्यन्त वृद्ध हो गये थे, बड़े व्याकुल हुए। यद्यपि उनके पास उस समय कृष्णदेव भट्टाचार्य्य, बलदेव विद्याभूषण सरीखे बड़े-बड़े योग्य और दिग्गज विद्वान् थे, परन्तु उनका मन इतने से ही संतुष्ट नहीं हुआ, उन्होंने सब विद्यार्थियों को एकत्रित कर कुछ प्रश्न उनके सामने रखे और कहा कि इन प्रश्नों का यथार्थ उत्तर जो दे सकेगा अबकी वार वही इस सम्प्रदाय के प्राण श्रीगोविन्दजी को बचा सकेगा। श्रीबलदेव विद्याभूषणजी ही उत्तप्त हेम की तरह इस परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर जयपुर भेजे गये और उन्होंने वहाँ जो अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया उसका फल-स्वरूप 'गोविन्द भाष्य' आज किसी से छिपा नहीं है। उसी भाष्य के प्रतिपादित नौ प्रमाणों का 'प्रमेय-रत्नावली' में संक्षेप से कथन है, यही है इस 'प्रमेय-रत्नावली' की कथा। इसकी संस्कृत टीका उन्हीं श्रीचक्रवर्तीजी के शिष्य श्रीकृष्णदेव भट्टाचार्य्य की निर्मित है। मेरी बहुत दिनों से अभिलाषा

थी कि हिन्दी में कोई ऐसा ग्रन्थ हो जो इस सम्प्रदाय के तत्त्व प्रतिपादन करने का कार्य संक्षेप में करे। आशा है इस ग्रंथ से उक्त क्षति बहुत अंशों में पूर्ण होगई होगी, इसका न्याय्य सहृदय पाठक ही करेंगे।

अन्त में, मैं श्रीहेमांग गोस्वामी शास्त्री, श्रीगौरकृष्ण गोस्वामी शास्त्री, काव्यतीर्थ तथा अभिन्नहृदय दोनों बन्धुओं को धन्यवाद रूप श्रद्धाञ्जलि दिये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने अपने अमूल्य समय को प्रदान कर इस ग्रन्थ की भाषा तथा संशोधन कर मुझे अनुगृहीत किया है।

निवेदकः—
वैष्णवदासानुदास,
दीनबन्धुदास।

* श्रीगौरकृष्णश्शरणम् *

वक्तव्य-विशेष

जाम्बूनदमयीमीडे राधाभावसमाश्रयाम् ।
तां चैतन्यात्मिकां मूर्त्तिसच्चिदानन्दविग्रहाम् ॥

प्रस्तुत-ग्रन्थ माध्वगौडेश्वर वैष्णव-सिद्धान्त का एक प्रामाणिक उपादेय ग्रन्थ है, इस ग्रन्थ के रचयिता श्रीबलदेव-विद्याभूषण महोदय माध्व गौडेश्वर–सिद्धान्तवाद के सम्पूर्ण अङ्गों को इस छोटे से ग्रन्थ में सुन्दर रीति से सङ्कलन करने में पूर्णरूपेण सफल हुये हैं इसमें कोई सन्देह नहीं।

अनादि काल से सम्प्रदायानुक्रमेण वैदिक-माध्वगौडीय–वैष्णव-मत प्रचलित है और उसीके फलस्वरूप उसके सिद्धान्त भी अनादि तथा वैदिक हैं, यह ग्रन्थ में दी गई सम्प्रदाय-प्रणाली से स्पष्ट हो रहा है।

इसी अनादि वैदिक-माध्व–गौडेश्वर-वैष्णवसम्प्रदाय में व्यास, आनन्दतीर्थ, (श्रीमध्वाचार्य) श्रीरूप, श्रीगोपालभट्ट, श्रीजीव–गोस्वामी, श्रीबलदेव-विद्याभूषण प्रभृति धुरन्धर दार्शनिक तथा वैष्णव-श्रेष्ठ व्यक्ति दीक्षित हुये हैं।

यद्यपि माध्व एवं गौडेश्वर–दर्शन में तात्विक दृष्टि से कोई मतभेद नहीं है, प्रत्युत स्थान २ पर 'शक्ति' और 'शक्तिमान्' की भाँति 'जीव' 'ईश्वर' में भेद, 'जीव' परतन्त्र तथा अणु पदार्थ एवं 'ईश्वर' स्वतन्त्र तथा व्यापक पदार्थ आदि सिद्धान्तों की छाया स्पष्टतः प्रतीयमान हो रही है, किन्तु इतने पर भी इसकी अपनी निजी विशेषतायें हैं —

माध्व :—	*गौडेश्वर :—*
कर्म-मिश्रा भक्ति से भगवत्प्राप्ति ।	शुद्धा-भक्ति से भगवत्प्राप्ति ।
उच्चवर्णों के भक्तों को ही मोक्ष ।	ऊंचे हों या नीचे भक्तमात्र को भगवत्साक्षात्कारा मुक्ति ।
ऐश्वर्य्य-प्रधान भक्ति ही विशेष है।	माधुर्य्य-प्रधान भक्ति ही विशेष है।
देवतागण ही श्रेष्ठ हैं ।	व्रज में रहनेवाले नित्य परिकर ही श्रेष्ठ हैं । आदि………

अचिन्त्यभेदाभेदवाद ही गौडेश्वरसम्प्रदाय सम्मत है और इसे ही श्रीगोपालभट्टगोस्वामी तथा श्रीजीवगोस्वामिपाद ने स्वनिर्मित षट् सन्दर्भ तथा सर्वसम्वादिनी में स्पष्ट—रूपेण स्वीकार किया है और उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर वे भगवान् की अचिन्त्य—शक्ति को अङ्गीकार करते हुये अपना पक्ष संस्थापित करने में सफल हुये हैं।

यहाँ संक्षिप्तरूपेण गौडेश्वर—वैष्णवमत का दिग्दर्शन करा इस वक्तव्य—विशेष को समाप्त करेंगे।

'आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं ।
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता ॥
शास्त्रं भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान् ।
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्राग्रहो नः परः' ॥

भगवान् व्रजेन्द्र-नन्दन श्रीकृष्ण ही आराधनीय है उनका धाम श्रीवृन्दावन है क्योंकि वे श्रीवृन्दावन को छोड़ कर अन्यत्र कहीं नहीं जाते यदि कोई उपासना है तो वह व्रजाङ्गनाओं द्वारा की गई उपासना ही श्रेष्ठ है एवं श्रीमद्भागवत शास्त्र ही प्रमाण और प्रेम ही एकमात्र सार है यही श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु का मत तथा श्रीगौडेश्वर—सम्प्रदाय का परम सिद्धान्त है, इस ग्रन्थ का प्रकाशन अवतक की एक भारी कमी को पूरा करेगा इसमें सन्देह नहीं।

पूज्य श्रीकृष्णचैतन्यगोस्वामी(पटना)तथा सुहृद्वर श्रीहेमाङ्ग गोस्वामी शास्त्री ने इसकी टीका तथा महत्त्वपूर्ण-भूमिका लिखकर जो उपकार किया है उसके लिये उन्हें धन्यवाद देने के लिये हमारे समीप शब्द ही नहीं हैं अतः हम उनके कृतज्ञ रहे।

श्रीदीनबन्धुदास वैष्णव ने अपने अनवरत पुनीत-परिश्रम से इस को प्रकाशन कर जो सहृदय-साधुता के स्वरूप कार्य्य किया है इसके लिये वैष्णव-समाज उन्हें सदैव साधुवाद देगा यह निःसन्देह है।

प्रस्तुत-ग्रन्थ का संशोधन तथा सम्पादन का भार इस अनुभव हीन को करना पड़ा इस समय अनेक प्राचीन-पुस्तकों के अवलोकन का सौभाग्य मुझे मिला और उन्हीं के आदर्श पर यथासम्भव परिष्कृत 'प्रमेय-रत्न'माला के रूपमें यहाँ ग्रथित हुए हैं, इन प्राचीन-पुस्तकोंमें एक अति प्राचीन-पुस्तक श्रद्धास्पद आचार्य श्रीमदनमोहन गोस्वामी वैष्णव-दर्शनतीर्थ भागवतरत्न महोदय ने सम्पादनार्थ मुझे प्रदान की अनुकम्पा की है जिससे मुझे पाठ संशोधन में पर्य्याप्त सहायता मिली है अतः मैं उनका कृतज्ञ रहा तथा समय समय पर अस्मदीय-पितृचरण सम्माननीय श्रीदामोदराचार्य गोस्वामी वैष्णवशास्त्री महोदय ने जो समुचित परामर्श प्रदान किए हैं वह मेरे लिए गौरव की वस्तु हैं।

अन्तमें हम सर्वान्तर्यामि भगवान् श्रीगौरकृष्णात्मक'श्रीगोवर्द्धन-धारणचरण' श्रीराधिकारमणदेव के श्रीचरणों में सानुनय प्रार्थना कर रहे हैं कि वे एक नवीन आलोक, चेतना,स्फूर्ति तथा भक्ति हम लोगों में भर दें जिससे भविष्य में हम कुछ ठोस वैष्णव-साहित्य द्वारा जनता के सम्मुखीन हो सकें।

श्रीराधारमणमन्दिर
श्रीवृन्दावन
श्रीपादजीवोत्सवः १७वै०

विदुषामाश्रवः —
गौरकृष्णगोस्वामी
शास्त्री-काव्यतीर्थ

* श्रीकृष्णचैतन्यचन्द्रं वन्दे *

प्राक्कथन

शरीरा मानसा दिव्या वैयासे ये च मानुषाः।
भौतिकाश्च कथं क्लेशा बाधन्ते हरिसंश्रयम् ॥

इत्युक्तदिशाऽसाध्यागाधबाधाबाधविदग्धस्य तापत्रय-तापितभूतमात्रत्रातु रचिकित्स्यचिकित्स्यचिकित्सकस्य परिचयं वयं निराश्रयं सदाशयं जगद्दातुमुद्यताः। परं पृष्ठव्येषु पृष्ठव्यमेतदेव यद्यातनानिवहहानिकं सर्वात्मनाभिलषितं नवा ? यद्यनुकूलमुत्तरं तदानिशङ्कमाविशतां चिकित्सागारम्। तत्र द्रक्ष्यति पारे पारदर्शि-प्रतिसीराया अनवरतप्रीतिप्रवाहपूरपूर्ण मेकमासीनं युवानङ्ग-दहन्तारम्।

युवयोः परस्परम्प्रेमपराडापटिमापुटितस्यालापस्यान्तरायोऽ-हमाकर्णनीयः।

एषा प्रस्थानत्रयभाष्यकृतां श्रीमाध्वगौडेश्वराम्नायान्यतम-कर्णधाराणां यावज्जीवं श्रीश्यामसुन्दरपादपद्मप्रपन्नानां विद्याभूषण-विभूषितानां श्रीबलदेवविद्वद्धुरीणानामनवद्य-पद्यरत्नग्रथिता प्रमेयरत्नावली रत्नावलीव संक्षेपेणैतत्संप्रदायतत्वविविदिषतां

हृदयेषु विन्यस्ता तेषां परमानन्दसन्दोहं वितनुताम् ।

महानुभावानामेषां जीवनोदन्तमत्यल्पमेव विदितम् ।

एतत्सम्प्रदायपरिपोषिकेषु परिपोतिकेषु श्रीषड् गोस्वामिचरणेषु नित्यनिकुञ्जकैङ्कर्योपगतेषु कलिमलमलीमसमनसां मानुषाणां गौडीयाम्नायमात्मसात्कर्तुःश्रीगोविन्ददेवविग्रहस्य सेवामात्मसात्कर्तुं केषांचिच्चित्तवृत्तयः प्रचलिताः, जयपुरराज्यान्तर्गत 'गलता' पीठस्थाने च तैरस्योपक्रम उपक्रान्तः परमपावने श्रीधाम्नि वृन्दावने तत्समये श्रीचक्रवर्त्तिपादा जराजारजर्जरायमाणसन्धिबन्धा वैष्णवोचित 'तृणादपि सुनीचभाव' मवलम्ब्य 'प्रतिष्ठा कृष्णभजनभङ्गहेतु' रिति निष्किंचनतां चित्वा वादविवादविरताः स्म विराजन्ते । एतदेव तेषां साहसं वृद्धिमुपगतमित्यनुमानीयम् । शास्त्रार्थोद्यतान्तान्दृष्ट्वा श्रीगोविन्ददेवसेवकैर्जयपुरादितः समाचारं संचारितम् श्रीवृन्दावनत इमे श्रीवलदेवपादा श्रीचक्रवर्तिचरणान्तेवासिनस्तैःप्रेषिताः। तेषां प्रतिभया भयाकुलास्ते तदीयशेमुष्या औत्कर्ष्यं सेर्ष्यममन्यन्त, 'परमेषां माध्वगौडीयमते न किञ्चिदपि शारीरकसूत्राणां व्याख्यानमवरीवर्ति नेम अतः सम्प्रदायसंदेशभागिनः' इति वदद्भ्यस्तेभ्यः 'प्रेषयन्तान्नामास्मद्गुरुवरचरणान्तिकं कश्चित्तम आनीय दर्शयतु भाष्यकूटानि' इति तै गौरवगरिम्णा भाणि । जयपुरराज्याधीश्वरेण जयसिंहदेववर्मणा च विसृष्टः कश्चिदश्वारोही तल्लेखहारी ।

सोऽष्टाहेन परावर्त्य वसनावृतं श्रीमद्भागवत षट्सन्दर्भादिकं पुस्तककदम्बं, इयन्मात्रलिखिता 'यद्धिया प्रणयसे सदनुग्रहाय' एका मुद्रार्पिता भूर्जत्वक्चैतल्लेखोत्तरमेभ्योऽदात्।

इत एभिश्चैतस्मिन्नवसरे श्रीगोविन्दमन्दिर एवोषित्वा श्रीगोविन्दचरणैकभरैः श्रीगोविन्दभाष्याभिधानं ब्रह्मसूत्राणामप्राकृतं व्याख्यानं विरचय्य तेन पुस्तकस्तूपेन सार्कं प्रेषितं जयसिंहवर्मणोऽन्तिकम्। तद्भाष्यभाषणदर्शनालोचनेनैषा मुखमुद्रा मुद्रापिता विद्रोहिणामिति प्राचीनेतिहासविदां विदां वदनाद्वादकुतूहलेनाहेलनेनाशृणवम्।

प्रकृतप्रस्तावश्चेदं यद्यप्याकारेण क्षुद्रतरमस्ति परन्तु प्रकारेणाभारेण च भूयिष्ठं गरिष्ठं श्रेष्ठञ्चेति। वेदानुगत-दर्शनेषूपासना शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्येषु च क्रमश उत्तरोत्तरं विकसिता। श्रीमच्छंकरारण्यपादैः प्रथमं वेदापवाद-विदूषितान्तःकरणान् हेतुवादिनो नग्नां सौगतांश्च हठाद्वेदान्तर्गत-वाद आकर्षयद्भिर्मायावादः सृष्टः। निर्विशेषं निर्गुणञ्च ब्रह्म स्वीकृत्य निर्वेदस्थायिभावः शान्तारसस्तदुपासनार्थं च स्वीकृतः। तदनन्तरं सर्वश्रीरामानुजमध्वविष्णुस्वामिनिम्बार्काचार्य्यचरणैः क्रमशस्त-द्वादो निस्सारत्वात् रूपुष्पीकृत्य-दास्य-सख्य-वात्सल्य-माधुर्य्येषु मतिर्व्यधायि। एष विकासवादो न माधुर्यमाप्य समाप्तिमागात्। स्थायिनो रतिभावस्यास्य रसस्योपासने यद्यप्यन्यरसापेक्षया सामीप्यं हरेरस्ति—नित्यभगवद्दासजीवस्य श्रीभगवत्सान्निध्य-

मानेतुं माधुर्य्यरसस्यैवोपासना सर्वोत्कृष्टा—किन्तु माधुर्यरसस्य स्वकीयाभावो उपासने कादाचित्कशैथिल्यकृत्स्वकीयज्ञानत्वादिति तच्छैथिल्यसंजिहीर्षुणा करुणावरुणालयेन हरिणा स्वयं श्रीचैतन्यरूपेणावतीर्य 'रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता' इति परकीयाभावेनैव श्रीहरिभजनं सद्यः साम्मुख्य-करमित्युपदिष्टम्। यथा तेन कण्ठतश्चोक्तम् :—

'आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा-
मदर्शनान् मर्महतां करोतु वा।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः'॥

अत्र लिङ्गं 'लम्पट' शब्दश्च सहृदयैर्विभावनीयः अत्रोपासने न कदाचिदपि शिथिलता संभवेतुं शक्यते यतः श्रीमहाप्रभुणा चैतन्यचन्द्रेण नीलाचले श्रीरूपगोस्वामिप्रेषितां श्रीप्रभुदर्शनोत्कंठा-भावपूर्णां पत्रिकामवाप्य श्रीमुखतो निगदितोऽयं श्लोकः :—

'परव्यसनिनी नारी व्यग्राऽपि गृहकर्मसु
तदेवास्वादयत्यन्तर्नवसंगरसायनम्'॥ इति।

निवन्धेऽस्मिन्भक्तिवैविध्यं प्रदर्श्य ग्रन्थकृता च 'कृष्णावाप्ति फलाभक्तिरेकान्तात्राऽभिधीयते। ज्ञानवैराग्यपूर्वा सा फलं सद्यः प्रकाशयेत्'। इत्युक्त्वोपसंहृतमष्टमं विशुद्धभक्तेर्मुक्तिदत्वं-

प्रकरणम् । इत्यत्र 'कृष्णावाप्ति' रित्यनेन एतदेव ज्ञायते यत्सर्वशास्त्र-मौलिमणिवयभूतेऽखिलनिगमागमसारे रसमये श्रीमद्भागवते व्रजगोपिकाभिरुद्धवेन प्रल्हादेन साह्लादं तिरस्कृतापराल्हाद-श्चाचरितम् । परं परकीयाभावेनार्चिते देवे तदीयोपासनायां वैषयिक-वासना वासोऽपि मायासोदित्येव 'ज्ञानवैराग्यपूर्वसे'ति विशेषितम् ।

मत्पितृव्यपादैः पाटलपुत्रप्रवासपरैराचार्य्य श्रीकृष्णचैतन्य-गोस्वामिवर्य्यैः प्रायः विंशतिवर्षपूर्वं स्वाध्ययनावस्थायां ॐ श्रीविष्णुपादाचार्य्य श्रीमधुसूदनगोस्वामि सार्वभौमचरण-प्रान्तं स्थित्वाऽस्य निवन्धस्यानुवाद आरब्धः स च कार्याधिक्यात् 'श्रेयःसु वहुविघ्नानि' इति 'ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै' एतावद्भू-त्वैव विरराम । अधुना श्रीगौरकृष्णगोस्वामिशास्त्रिकाव्यतीर्थ-महोदयानामाग्रहग्रहात् श्रीदीनवन्धुदासभागवताग्रगण्य-प्रीतिपरवशेन मयायं साहसः स्वनुष्ठितः श्रीविद्याभूषणभाषण-भाषान्तरकरणे —

'मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्' ॥

इति तत्करुणैव शरणम् ।

शान्तिकुटीर, श्रीवृन्दावन ।
श्रीकृष्णाष्टमी चन्द्रे ८७ वै०

श्रीगौराङ्गपदारविन्दमकरन्दभृङ्गो—
हेमाङ्गगोस्वामी शास्त्री

श्रीराधारमणोजयति

श्रीगौरविधुर्जयति

प्रमेयरत्नावली

जयति श्रीगोविन्दो गोपीनाथः समदनगोपालः ।
वक्ष्यामि यस्य कृपया प्रमेयरत्नावलीं सूक्ष्माम् ॥१॥

गौडोदयमुपयातस्तमःसमस्तं निहन्ति यो युगपत् ।
ज्योतिश्च योऽतिशीतः पीतस्तमुपास्महे कृताञ्जलयः ॥

विद्याभूषणापरनाम्ना वलदेवेन श्रीगोविन्दैकान्तिना ब्रह्मसूत्रेषु गोविन्दभाष्याभिधानंव्याख्यानं विरचितम् । अथ कैश्चिच्छिष्यैर्भाष्यप्रमेयाणि परिपृष्टः, स तानि संक्षेपाद्वक्ष्यन्नि-र्विघ्नतायै तत्पूर्तये मङ्गलमाचरति–जयतीति । कीदृशः श्रीगोविन्द इत्याह गोपीनाथो वल्लवीकान्तः । मदयति मनांसि भक्तानामिति मदनः गाः पालयतीति गोपालः ततः कर्मधारयः । स्फुटार्थ-मन्यत् । श्लेषेण वृन्दाटवीमधिष्ठितानां श्रीगोविन्दादिसंज्ञानां निखिलचैतन्यभक्ताभीष्टानां त्रयाणामर्च्चावताराणां जया-शंसनम् ॥ उभयत्र प्रणतिलक्षणमङ्गलं कृतम् जयतिना तस्याक्षेपात् ॥१॥

श्रीगोपीजनवल्लभ भक्तोंके मनको मत्त करने वाले गोपालक श्रीगोविन्द की अथवा श्रीवृन्दावन में विराजमान-

भक्त्याभासेनापि तोषं दधाने,
धर्माध्यक्षे विश्वनिस्तारिनाम्नि ।
नित्यानन्दाद्वैतचैतन्यरूपे,
तत्त्वे तस्मिन्नित्यमास्तां रतिर्नः ॥२॥

पुनरपि तत्र रतिप्रार्थनं मङ्गलमाह—भक्त्येति । तत्त्वे परमात्मनि कृष्णे [तत्त्वं वाक्यप्रभेदे स्यात्स्वरूपे परमात्मनीति विश्वः] कीदृशीत्याह—भक्त्याभासेनापीति । यथा पुत्रोद्देश्येन नामोच्चारयत्यजामिले तुष्टिर्दृष्टा । धर्माध्यक्षे प्रवर्त्तके । नित्य आनन्दो यस्य तन्नित्यानन्दश्च, नास्ति द्वैतं देहदेहिभेदो यस्यतदद्वैतश्च, चैतन्यं विज्ञानञ्चेति कर्म्मधारयः। तद्रूपे तदात्मके । पक्षे कलावस्मिन् श्रीकृष्णः सङ्कर्षणेन शम्भुना च सहितो जनानुद्धर्तुमवततार । तत्र श्रीकृष्णस्य चैतन्य इति सङ्कर्षणस्य नित्यानन्द इति शम्भोस्त्वद्वैत इति नामाऽभूत् । तस्मिन् त्रिरूपे तत्त्वे नो रति र्नित्यमास्ताम् । अन्यत् प्राग्वत् । प्रमाणं त्वत्राकरग्रन्थाद् ग्राह्यम् ॥२॥

अर्च्चावतार श्रीगोविन्द श्रीगोपीनाथ श्रीमदनमोहन देव की जय हो, जिनकी कृपा के बल से संक्षेप में प्रमेयरत्नावली लिखने का प्रयास करता हूँ ॥१॥

भक्ति के आभासमात्र से प्रसन्न हो जाने वाले, जिनके नामोच्चारणमात्र से संसार के प्राणियों का निस्तार होजाता है, उन धर्म्म प्रवर्त्तक, नित्य आनन्द दाता देह देही भेद विहीन चैतन्यस्वरूप अथवा कलिमल विनाशार्थ अवतीर्ण तत्वस्वरूप-

आनन्दतीर्थनामा सुखमयधामा यतिर्जीयात् ।
संसारार्णवतरणिं यमिह जनाः कीर्तयन्ति बुधाः ॥३॥

भवति विचिन्त्या विदुषां निरवकरा गुरुपरम्परा नित्यम् ।
एकान्तित्वं सिद्ध्यति ययोदयति येन हरितोषः ॥४॥

अथ पूर्वाचार्य्यं प्रणमत्यानन्देति । आनन्दतीर्थ इति श्रीमध्वाचार्य्यस्य नामान्तरम् । यतिः परिव्राट् । तरणिं नौकाम् ॥३॥

भाष्यप्रमेयाणि यतो लब्धानि,सा गुरुपरम्परा ध्येयेत्याह भवतीति । गुरुपरम्परा देशिकवंशः । (परम्परा परीपाट्यां-सन्तानेऽपि वधे क्वचिदिति विश्वः) निरवकरा निर्दोषा । तस्या ध्यानेन किं स्यादित्यत्राह । यया परम्परया ध्यातया ध्यातुरेकान्तित्वं सिद्ध्यति, हर्येकनिष्ठत्वं भवति । येनैकान्तित्वेन हरितोष उदयति ॥ 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते' । प्रियोहि ज्ञानिनोऽत्यर्थ महं सच ममप्रिय इत्यादि स्मृतेः ॥४॥

श्रीनित्यानन्द श्रीअद्वैत श्रीचैतन्य नाम से विख्यात श्रीसङ्कर्षण शम्भु के साथ श्रीकृष्ण परमात्मा के चरणों में हम लोगों की प्रीति वर्द्धित हो ॥२॥

आनन्दतीर्थ नामक सुखमयस्वरूप यति श्रीमन्मध्वाचार्य्य की जय हो, जिन्हें विद्वान् लोग इस संसार सागर की नौका समझते हैं । अर्थात् उनके उपदेश को ग्रहण करने से जीव भव सागर से उत्तीर्ण होकर श्रीहरि धाम की प्राप्ति कर सकता है ॥३॥

यदुक्तं पद्मपुराणे—
सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते विफला मताः।
अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः॥
श्रीब्रह्मरुद्रसनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः।
चत्वारस्ते कलौ भाव्या ह्युत्कलेपुरुषोत्तमादिति ॥

प्रमेयोपदेशपथप्रवर्त्तकाश्चत्वारः प्रागभूवन्। तेभ्यो गङ्गा-प्रवाहवदपरे प्रचरिताः। तदुपदिष्टेन पथा विना मन्त्रशास्त्रा-दुपलब्धा विष्णुमन्त्रा मुक्तिदा न भवन्ति। इत्यत्रपाद्मवाक्यमाह-सम्प्रदायेति । शिष्टाऽनुशिष्टगुरूपदिष्टो मार्गः सम्प्रदायः। शिष्टत्वं वेदप्रामाण्याभ्युपगन्तृत्वम्। अतः सम्प्रदायविहीनानां विष्णुमन्त्राणां जप्तानामपि वैफल्याद्धेतोः कलौ तदारम्भे सम्प्रदायिन स्ते केऽभूवन् तत्राह-श्रीति। पुरुषोत्तमादिति। जगन्नाथात्तत् प्रेषणात्तत्क्षेत्रादित्यर्थः॥

(भाष्य के प्रमेयों की प्राप्ति जिनसे हुई है, उन गुरुवर्गों की परम्परा सदा ध्यान कर्त्तव्य है उस आशय से कहते हैं:-)

जिससे श्रीकृष्णचरणों में अनन्यता प्राप्त होती है और भगवत् प्रसन्नता होती है, इस निर्म्मल गुरूपरम्परा का भक्त-जनों को नित्य स्मरण करना चाहिए॥४॥

(प्रमेयों के उपदेशक धर्म्मपथ प्रदर्शक पहिले चार महानुभाव हुए थे जिन्होंने चार सम्प्रदाएँ चलाई थीं और गङ्गा-प्रवाह के समान एक ने अन्य को उपदेश किया था। उनके उपदिष्ट पथ से भिन्न मन्त्रशास्त्र से लिए हुए मन्त्र फलदायी नहीं होते यह पद्मपुराण में लिखा है:-)

सम्प्रदाय से विहीन जो मन्त्र हैं वे फलशून्य हैं, उनसे भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिए कलियुग में चार सम्प्रदाय-

रामानुजं श्रीः स्वीचक्रे मध्वाचार्यं चतुर्मुखः।
श्रीविष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुः सनः ॥

तत्र स्वगुरुपरम्परा यथा—

श्रीकृष्ण-ब्रह्म-देवर्षि-वादरायणसंज्ञकान् ।
श्रीमध्व-श्रीपद्मनाभ-श्रीमन्नृहरि-माधवान् ॥
अक्षोभ्य-जयतीर्थ-श्रीज्ञानसिन्धु दयानिधीन् ।
श्रीविद्यानिधि-राजेन्द्र-जयधर्म्मान् क्रमाद्वयम् ॥

आदिभूतास्ते चत्वारः स्वस्वसम्प्रदायान् प्रौढान् वीक्ष्य स्ववंश्येषु तद्धुर्यांश्चतुरश्चक्रुरित्याह—रामेति । श्रीर्लक्ष्मीः स्वसम्प्रदायप्रवर्त्तनक्षमतया रामानुजं स्वीचक्रे। स्फुटार्थ मन्यत् ॥

प्रवर्त्तक होंगे। लक्ष्मी ब्रह्मा, शिव और सनकादिक पृथ्वी को पवित्र करने के लिए कलियुग में उत्कलदेशस्थित श्रीपुरुषोत्तम-क्षेत्र से चारों सम्प्रदायों को सञ्चालित करेंगे ॥

उनमें श्रीलक्ष्मीदेवी ने श्रीरामानुजाचार्य्य को, श्रीब्रह्माजी ने श्रीमध्वाचार्य्य को, श्रीशङ्कर ने श्रीविष्णुस्वामी को और श्रीसनकादिकों ने श्रीनिम्बादित्य को सम्प्रदाय सञ्चालन के लिये शिष्यरूप से स्वीकार किया है ॥

पुरुषोत्तम-ब्रह्मण्य-व्यासतीर्थांश्च संस्तुमः।
ततो लक्ष्मीपतिं श्रीमन्माधवेन्द्रञ्च भक्तितः॥
तच्छिष्यान् श्रीश्वराद्वैत-नित्यानन्दान् जगद्गुरून्।
देवमीश्वरशिष्यं श्रीचैतन्यञ्च भजामहे।
श्रीकृष्णप्रेमदानेन येन निस्तारितं जगत्॥

मुख्यप्रयोजनाभावात् श्र्यादिपरम्परां विहाय स्वकीयां ब्रह्म-परम्परामाह कृष्णेति। ब्रह्मणः श्रीकृष्णशिष्यत्वं श्रीगोपालपूर्वतापिन्यां विस्फुटम्। श्रीमध्वमुनेर्बादरायणशिष्यत्वं त्वैतिह्यप्रसिद्धम्। मध्वशङ्करौ सहस्रविद्वद्गोष्ठीमध्यस्थौ मणिकर्णिकायामनशनतया विचारं चक्रतुः। तत्र नभसि नीलाभ्रप्रख्यः सर्वैर्दृष्टो व्यासो मध्वमतं स्वीचकार। शङ्करमतं त्वत्याक्षीदिति प्रसिद्धम्। तच्छिष्यानिति तस्य श्रीमाधवेन्द्रस्य शिष्यान् श्रीश्वराचार्याद्वैताचार्यनित्यानन्दान्। देवमिति। माधवेन्द्रस्य ईश्वरः, ईश्वरस्य श्रीकृष्णचैतन्य इति। इत्थञ्च त्रयाणां प्रभूणां वंश्यैरिदानीन्तनैः सम्बध्यस्वस्वगुरुपरम्परासर्वैर्बोद्धव्या इति दर्शितम्। येनेति श्रीचैतन्येन॥

(यहाँ अपनी श्रीमाध्वसम्प्रदाय की गुरु परम्परा पाठ की सुविधा के लिए पद्यवद्ध करके लिखी जाती है।)

जय श्रीकृष्ण विश्व अधिनायक। जय चतुरानन सृष्टि विधायक॥
श्रीनारद हरि गान परायण। भयहारी कृष्णद्वैपायन॥

**श्रीमध्वः प्राह विष्णुं परतममखिलाम्नायवेद्यञ्च विश्वं ।
सत्यं भेदश्च जीवान् हरिचरणजुष स्तारतम्यञ्च तेषाम् ॥
मोक्षं विष्णवङ्घ्रि लाभं तदमलभजनं तस्य हेतुं प्रमाणं ।
प्रत्यक्षादित्रयञ्चेत्युपदिशति हरिः कृष्णचैतन्यचन्द्रः ॥५॥**

एवं स्वगुरुपरम्परामाख्याय तत्प्रमेयाणि तावदुद्दिशति श्रीमध्व इति । *मध्वो मुनिरस्मत् पूर्वाचार्य्यो विष्णुं परतममखिलाम्नायवेद्य-ञ्चाह । तस्य सर्वजीवाभिन्नतां चिन्मात्राद्वितीयतयाम्नायलक्ष्यताञ्च निरस्यति–विश्वं भेदञ्च सत्यमाह । आविद्यकत्वात् प्रपञ्चस्तद्भेदश्च–*

जय श्रीमध्वाचार्य कृपाल । पद्मनाभ निजजन प्रतिपाल ॥
श्रीनरहरि श्रीमाधवसिद्ध । श्रीअक्षोभ्य दयालु प्रसिद्ध ॥
श्रीजयतीर्थ भक्तजन प्राण । ज्ञानसिन्धु गुण-गौरवगान ॥
दयानिधि श्रीहरि के दास । श्रीविद्यानिधि ज्ञानावास ॥
श्रीराजेन्द्र दया के स्वामी । श्रीजयधर्म सुपथ अनुगामी ॥
श्रीपुरुषोत्तम भक्त अनन्य । श्रीब्रह्मण्य भक्त में गण्य ॥
व्यासतीर्थ निज जन के मित्र । श्रीलक्ष्मीपति भक्त विचित्र ॥
श्रीश्रीमाधवेन्द्र सुख्यात । तीन शिष्य जिन के विख्यात ॥
श्रीईश्वर आचार्य प्रधान । श्रीअद्वैत ज्ञान गुण खान ॥
जय श्रीनित्यानन्द रसाल । करुणामय दीनम प्रतिपाल ॥
कलिमलहारी युगावतार । प्रकटित प्रेमरूप साकार ॥
भव भय हारी ईश अनन्य । जय जय श्रील कृष्णचैतन्य ॥
उनके कृपा पात्र गोपाल । श्रीभट्टाख्य सुभक्ति रसाल ॥
सब गुरु गन कों करूँ प्रणाम । कृपा करहु हे करुणाधाम ॥
निज चरणन में देहु निवास । करहु हृदय में भक्ति प्रकाश ॥

मृषेति परोत्प्रेक्षितं कुमतं निराकरोतीत्यर्थः। जीवान् बद्धमुक्तान् नित्यमुक्तान् सर्वान् हरिचरणजुषो हरेर्दासानाह, तेषां हर्यात्मकत्वं निराकरोति। तेषां जीवानां तारतम्यं स्वरूपसाम्ये सत्यपि साधनोज्जृम्भितैः फलैः वैषम्यमाह। त्रिदण्डिप्रतिपादितं फलतोऽपि साम्यं निराकरोति। जीवानां विष्ण्वङ्घ्रिलाभं विष्णुसाक्षात्कारं मोक्षमाह, पराभिमतां तेषां विष्णुरूपतां निराकरोति। तस्य विष्णोरमलं निष्कामं यद्भजनं तत्तस्य मोक्षस्य हेतुमाह। ब्रह्माहमस्मीति ज्ञानस्य मोक्षहेतुतां निराकरोति। प्रत्यक्षादीनि त्रीणि स्वमते प्रमाणान्याह, तेभ्योऽधिकान्युपमानादीनि निराकरोति। इत्येतान्येव मध्वमुनिस्वीकृतानि नवप्रमेयाणि श्रीकृष्णचैतन्यहरि स्तदन्वयगृहीत–दीक्षः स्वशिष्यानुपदिशति। उभयत्र लट् प्रयोग स्तयोःसत्वात्। "जगत्प्राणो वायुर्देवो विष्णोरेकान्तीति" केनोपनिषदि प्रसिद्धम्। यो हनुमान् सन् श्रीराघवेन्द्रं भीमः सन् श्रीयादवेन्द्रं मध्वः सन् पाराशर्यं श्रीमुनीन्द्रञ्च तत्तन्मतप्रतीपान् खण्डयन् प्रतीपयामास। यद्यपि श्रीकृष्णचैतन्य ईश्वर स्तथापि तन्मतं सर्वोत्तमं विदय तदन्वये दीक्षां स्वीचकार लोकसङ्ग्रहेच्छुः। यत्र विशुद्धं द्वैतं हरेरात्ममूर्तित्वादिति च वर्ण्यते ॥ ५ ॥

भगवान् श्रीचैतन्यदेव साक्षात् ईश्वर थे तथापि उन्होंने श्रीमाध्वमत को सर्वोत्तम देखकर लोक शिक्षा के लिए माध्व सम्प्रदाय को ही अङ्गीकार किया और श्रीमन्मध्वाचार्य्य के-

तत्र श्रीविष्णोः परतमत्वम् यथा गोपालोपनिषदि :--

'तस्मात् कृष्ण एव परोदेवस्तं ध्यायेत्तं रसेत्तं भजेत्तं-यजेत्'-इति ॥

एवमुद्दिष्टानि प्रमेयाणि क्रमात् सप्रमाणानि कर्त्तुं प्रवर्त्तते- तत्र श्रीविष्णोरित्यादिभिः । परतमत्वं श्रेष्ठतमत्वम् । तस्मादिति-

---

प्रकाशित नौ प्रमेयों का उपदेश किया था ; जिसके ज्ञान के बिना साम्प्रदायिक तत्वों का ज्ञान नहीं हो सकता ।

वे नौ प्रमेय यह हैं । (१) श्रीविष्णु परतम हैं । (२) वही सब वेदों से वेद्य हैं । * (३) विश्व सत्य है । (४) जीव ईश्वर का भेद भी सत्य है । + (५) सब जीव नित्य भगवद्दास हैं । × (६) जीवों के साधन-जनित फल में तारतम्य है । (७) भगवच्चरण-प्राप्ति ही मोक्ष है । (८) मोक्ष का कारण हरिभजन है । (९) प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द यह तीन प्रमाण हैं ॥ ५ ॥

(श्रीमन्मध्वाचार्य के स्वीकृत यही नौ प्रमेय हैं जो क्रम-से शिष्टानुशिष्ट होकर श्रीमच्चैतन्य देव द्वारा उपदिष्ट हुए थे । प्रस्तुत ग्रन्थ में इनका ही क्रमशः सप्रमाण निर्णय किया गया है ।

---

* वेद गौण वृत्ति से कर्म्म और ज्ञान के प्रतिपादन करने वाले से प्रतीत होते हैं, पर वास्तव में वे श्रीभगवत्तत्व के ही प्रतिपादक हैं ।

+ यह भेद पाँच तरह का है जिसे 'भेदपञ्चक' कहते हैं (१) ईश्वर जीव भेद (२) जीव जीव भेद (३) जड़ जड़ भेद (४) जड़ जीव भेद (५) जड़ ईश्वर भेद ।

× जीव अन्य किसी देवी देवता का दास नहीं है क्योंकि कर्म्मों की उन्नति के द्वारा उन सब पदों को जीव स्वयं पा सकता है ।

श्वेताश्वतरोपनिषदि च :—

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवलमाप्तकामः ॥ इति ।
[१ । ११]

पूर्वोक्तादर्थप्रचयाद्धेतोः, तं मन्त्रतद्वाच्यतया द्वेधा सन्तं ध्यायेत् स्मरेत्, रसेत् जपेत्, भजेत् परिचरेत्, यजेत्-अर्चयेदिति ॥

ज्ञात्वेति । शास्त्रात् सद्गुरूक्तात्, देवं परेशं ज्ञात्वावस्थितस्य मुमुक्षोः सर्वेषां देहदैहिकममतापाशानां हानिर्भवति । तत् पाशजन्यैः क्लेशैः क्षीणैर्विशिष्टस्य तस्याःप्रारब्धभोगपूर्तेः पुनः पुनर्जायमानस्य जन्ममृत्युप्रहाणिर्भवति । विड़ाली दन्तस्पर्शेन तदर्भकस्येव जन्मादिना दुःखं तस्य न भवतीत्यर्थः । अथोत्तरोत्तरं तस्य देवस्याभिध्यानात् देहस्य लिङ्गशरीरस्य भेदे विनाशे सति चान्द्रब्राह्मापेक्षया तृतीयं भागवतं पदं स देवध्यायी लभते विमुक्तो भवतीत्यर्थः । कीदृशं तृतीयं तदित्याह—विश्वैश्वर्यं कृत्स्नविभूतिकं केवलं प्रकृत्यस्पृष्टं, ततः स देवध्यायी आप्तकामः पूर्णाभिलाषो भवति ॥

पहिले श्रीविष्णु के श्रेष्ठतमत्व के विषय में कहते हैं। गोपालोपनिषद् में लिखा है:—

श्रीकृष्ण ही परमदेव हैं अतः उन्हीं का ध्यान, उन्हीं का जप, उन्हीं की सेवा और उन्हीं की अर्च्चना करनी चाहिए।

श्वेताश्वतरउपनिषद् कहता है:—सद्गुरु के उपदेश से-

'एतज् ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्'।
इतिच [१ । १२]

श्रीगीतासुच—

'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय !' इति

एतद्देवात्मकं वस्तु ज्ञेयं, अतःपरमन्यद्वेदितव्यं किञ्चिन्नास्ति तस्यैव पारतम्यात् ॥

मत्त इति । परतरं मत्तोऽन्यत् किञ्चिन्नास्तीति मामेव सर्वोत्तमं विद्धीत्यर्थः । परमेव परतरं स्वार्थे प्रत्ययस्तरः ॥

उन परेश को जानने पर मोक्षाभिलाषियों के सब देह, दैहिकममताबन्धन टूट जाते हैं। बन्धन-मुक्त होने पर बारम्बार जन्म-मरण के दुःखों से छुटकारा हो जाता है, और सर्वदा ध्यान के फल से शरीर के विनाश होने पर वह देव-ध्यायीजन शुद्ध सत्वमय अप्राकृत तृतीय भागवत-पद को पाकर पूर्णकाम होजाता है।

इतना जान लेने पर आत्मज्ञानी पुरुष को और कुछ जानने की आवश्यकता ही नहीं रहती, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान सबसे परतम ज्ञान है।

श्रीभगवद्गीता में स्वयं श्रीकृष्ण ने आज्ञा की है:—

धनञ्जय ! मुझसे बढ़कर और कुछ जानने को है ही नहीं।

हेतुत्वाद्विभुचैतन्यानन्दत्वादिगुणाश्रयात् ।
नित्यलक्ष्म्यादिमत्वाच्च कृष्णः परतमो मतः ॥६॥

तत्र सर्वहेतुत्वं यथाहुः श्वेताश्वतरा :—

'एकः सदेवो भगवान् वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः' ॥
[५ । ४] इति ।

यैर्हेतुभिर्विष्णोः पारतम्यं तानाह हेतुत्वादिति । हेतुत्वं प्रपञ्चनिमित्तोपादानत्वं । तत्र पराख्यशक्तिमत्वेन निमित्तत्वं, प्रधानक्षेत्रज्ञशक्तिमत्वेन तूपादानत्वं बोध्यं, स्फुटार्थमन्यत् ॥ ६ ॥

एक इति । सदेवो भगवान्, एकः सर्वोत्तमः, अतो वरेण्यः पूज्यः, योनीनां प्रधानमहदादीनां कारणतत्त्वानां स्वभावान् स्वरूपाणि एकः सहायरहितः पराख्यशक्तिवेशोऽधितिष्ठति वशे संस्थापयति । ['एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः] ['योनिः स्यादाकरे-

---

जिन कारणों से श्रीविष्णु का परतमत्व है उन्हें कहते हैं—

(क) जो पराख्य-शक्ति से संसार के निमित्त और प्रकृति तथा जीव शक्ति के द्वारा उपादान कारण हैं, (ख) सर्वत्र व्यापक हैं, (ग) चैतन्य (घ) आनन्दत्व (च) आदि-गुणों के आश्रय हैं, और सदा (छ) लक्ष्मी (ज) आदि से युक्त हैं, वह श्रीकृष्ण ही श्रेष्ठतम वस्तु हैं यह विद्वानों का मत है ।

(क) सर्वहेतुत्व सम्बन्ध में श्वेताश्वतर उपनिषद् का वाक्य है:-

वह भगवान् ही सर्वोत्तम और पूज्य हैं, वे-

'यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः।
पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्यः ॥ इतिच

[५ । ५]

भगे' इति विश्वः] ['योनिः कारणे भगताम्रयोः' इति हेमश्च] ['स्वरूपञ्च स्वभावश्च' इत्यमरः] यद्वा एकः । तेभ्योऽन्यस्तदस्पृष्ट इत्यर्थः ॥

यच्चेति । यो देवः स्वभावं तेषां प्रधानादीनां स्वरूपाणि पचति महदादिकार्याविर्भावकतया आभिमुख्यं नयतीत्यर्थः । पाच्यांस्तदाभिमुख्ययोग्यान् सर्वान् प्रधानादीनर्थान् यो देवः परिणामयेन्महदाद्यवस्थां नयेदित्यर्थः । एवं पराख्यशक्तिवेशो यो विश्वनिमित्तं, स एव प्रधानक्षेत्रज्ञशक्तिवेशोविश्वयोनिर्जगदुपादानमित्यर्थः ।

अपनी पराख्य शक्ति से अकेले ही प्रधान और महदादि कारण-तत्वों के कारण हैं, और जो प्रधान (प्रकृति) आदि के स्वरूप को कार्यका आविर्भाव कर अपनी ओर अभिमुख करते हैं और अभिमुख होने पर प्रधानादि को महदादि रूप में परिणत करते हैं, अतः यह स्वतः सिद्ध है कि जो भगवान् श्रीकृष्ण पराख्य-शक्ति से विश्व के निमित्त कारण हैं वे ही प्रधान (प्रकृति) तथा क्षेत्रज्ञ (जीव) शक्ति द्वारा उपादान कारण है।

विभुचैतन्यानन्दत्वं, यथा काठके :—
'महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति' इति ॥ [४ । ४]

विज्ञानसुखरूपत्वमात्मशब्देन बोध्यते ।
अनेन मुक्तगम्यत्वव्युत्पत्तेरिति तद्विदः ॥७॥

महान्तं पूज्यं मत्वा ज्ञात्वा उपास्य चेत्यर्थः ।

नन्वस्माद्वाक्याद्विभुत्वं प्राप्तं, चैतन्यानन्दत्वं न प्राप्यते इति चेत्तत्राह— विज्ञानेति । अत्यते लभ्यते मुक्तैरयमित्यात्मा अततेः कर्मणि मनिन् । मुक्ताः खलु तादृशमेव तं ध्यायन्ति लभन्ते चेति भावः ॥७॥

[ख] विभु [ग] चैतन्य और [घ] आनन्दत्व का कठोपनिषद् प्रतिपादन करता है—

'महान् और विभु [व्यापक] आत्मा की उपासना करने वाला धीर-पुरुष शोकसन्तप्त नहीं होता' । उपर्युक्त श्रुति वाक्य में विज्ञान और आनन्दत्व शब्द नहीं आया है अतः विद्वानों के मत से आत्म + शब्द की मुक्त गम्यत्व व्याख्या होने से विज्ञान, सुख रूपत्व परमात्मा सिद्ध है ॥११॥

+ आत्मा शब्द की व्याख्या है—'अत्यते लभ्यते मुक्तैरयमिति आत्मा तथाभूतम् ।' अर्थात् मुक्त पुरुष-जिसे पाकर सांसारिक यन्त्रणाओं-से छूट जाते हैं, अतएव उस आत्मा का विज्ञान (चैतन्य) सुख (आनन्द) स्वरूप स्वयं सिद्ध है ।

वाजसनेयिनश्चाहु—

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणम्' । इति । [६ । २८]

श्रीगोपालोपनिषदि च—

'तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम्' । इति ।

मूर्तत्वं प्रतिपत्तव्यं चित्सुखस्यैव रागवत् ।
विज्ञानघनशब्दादि कीर्त्तनाच्चापि तस्य तत् ।

तथात्वे वाचनिकमाह—विज्ञानमिति । दातुर्यजमानस्य, रातिः फलार्पकम् । तमेकमिति स्फुटार्थम् ।

ननु मूर्तत्वं चित्सुखवस्तुनः कथं ? तत्राह—मूर्तत्वमिति — भैरवादे रागस्य गान्धर्वशासिते श्रोत्रे यथा मूर्तत्वं प्रतीतं,तथा भक्तिभाविते मनसि तस्य तत्त्वमित्यर्थः । 'विज्ञानघनानन्दघन सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठतीति' गोपालोपनिषदि [गोपालोत्तरतापनीय ८६] ब्रह्मणि विज्ञानघनादिशब्दप्रयोगाच्च तस्य तत्वम् । 'मूर्तौघनः' [पा० ३।३।७७] इति सूत्रेण काठिन्येऽर्थे हन्तेरप्प्रत्ययो घनश्चादेशोऽनुशिष्टः, सैन्धवघन इति तस्योदाहरणम् तदिदमचिन्त्यशक्तिसिद्धं बोध्यम् ।

वाजसनेयि ने तो स्पष्ट लिखा है—

विज्ञान और आनन्द रूप ब्रह्म ही पूजक को फल देने वाले हैं ।

देहदेहिभिदा नास्तीत्येतेनैवोपदर्शितम् ॥८॥

मूर्तस्यैव विभुत्वं, यथा मुण्डके –

'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' । इति ।

देहदेहीति । एतेन चित्सुखवस्तुनः मूर्तत्वसमर्थनेन परेशे देहदेहि-भेदो नास्तीति चोक्तमित्यर्थः ॥८॥

ननु मूर्तत्वे विभुत्वं न स्यात्, तत्राह–मूर्तस्यैवेति । वृक्षइति । एकःसर्वाध्यक्षः पुरुषोहरिर्दिवि परव्योम्नि तिष्ठति,स खलु स्वेतरसर्वनमस्यत्वात् वृक्ष इव स्तब्धः कश्चिदपि प्रतिनम्रो नेत्यर्थः । तेनैकेन पुरुषेण सर्वमिदं जगत् पूर्णं व्याप्तम् । अत्र पुरुषो दिवि तिष्ठतीति मूर्तत्वम् , तेनेदं पूर्णमिति तस्यैव विभुत्वमागतम् ।

श्रीगोपालोपनिषद् में लिखा है:—

वह एक गोविन्द ही सत् चित् और आनन्द विग्रह है । चित् सुख वस्तु का मूर्तिमान् होना राग के समान जानना चाहिए अर्थात् गायनाचार्यों को जैसे सुनते ही भैरव देश आदि राग का भान हो जाता है, उसी प्रकार भक्तिपूर्ण हृदय में चिदानन्दवस्तु भीमूर्तिमान् प्रतीत होती है । श्रुतियों के विज्ञानघन आनन्दघन इत्यादि शब्दों के प्रयोग से भी उस चिदानन्द का मूर्तिमान् होना सिद्ध है ❀ इस प्रकार चित् आनन्द वस्तु का–

❀'मूर्तौघनः' [पा० ३ । ३ । ७७] इस सूत्र द्वारा काठिन्यअर्थ में हन धातु को अप्प्रत्यय तथा घनादेश होता है सैन्धवघन के समान

द्युस्थोऽपि निखिलव्यापीत्याख्यानान्मूर्तिमान् विभुः ।
युगपद्ध्यातृवृन्देषु साक्षात्काराच्च तादृशः ॥६॥

मिथोऽतिदूरेषु ध्यातृवृन्देषु सिद्धप्रेमसु युगपत् तस्य प्रत्यक्षत्वाच्च तस्य मूर्तस्य विभुत्वं, नच धावन् सन्निदध्यात्, यौगपद्य-विरोधात् । ६॥

'घन' शब्द से कथन होने पर श्रीभगवान् के देही और देह भिन्न भिन्न हैं यह शङ्का ही नहीं रहती देही और देह तो अस्मदादिक संसारी प्राणियों के भिन्न हैं, 'चिदानन्द घन' के नहीं ॥८॥

अब मूर्तिमान् होने पर भी वह व्यापक है, इसका प्रमाण मुण्डकोपनिषद् में है :--

एक पुरुष भगवान् परव्योम में वृक्ष के समान अचलभाव से विराजमान हैं. उन में यह सब (विश्व) सम्पूर्ण (व्याप्त) है ।

परव्योम में स्थित वह पदार्थ अमूर्त नहीं होसकता, और उस साकार वस्तु से जब समस्त संसार व्याप्त है तब मूर्त्तिमान् पदार्थ के विभुत्व में सन्देह ही क्या रहा ? दूसरी बात यह है कि दूरस्थ अनेकानेक भक्तों के हृदय में उनकी भावनाओं के अनुसार पृथक्-पृथक् रूप से जब वह परेश एक साथ ही प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं तब तो व्यापकत्व और मूर्त्तत्व दोनों स्पष्ट दीखने लगते हैं ॥ ६ ॥

ही विज्ञानघनादि शब्द है सुतरां उस चित्सुख वस्तु के मूर्तिमान् होने में सन्देह ही नहीं रहता क्योंकि घनशब्द काठिन्य का वाचक है और काठिन्य बिना मूर्ति के हो नहीं सकता ।

श्रीदशमेच :—

'न चान्त र्न वहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।
पूर्वापरं वहिश्चान्त र्जगतो यो जगच्च यः' ॥
(भा० १० । ६ । १३)

'तं मत्वात्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम् ।
गोपिकोलूखले दाम्ना ववन्ध प्राकृतं यथा' ॥ इति ॥
(भा० १० । ६ । १४)

न चान्तरिति । यस्य अन्तर्वहिरादिदेशपरिच्छेदो नास्त्यतो यो जगतः पूर्वादिषु देशेषु युगपदस्ति, यश्च स्वशक्त्या जगन्मयस्त-मात्मजं गोपी यशोदा सापराधं मत्वा उलूखले दाम्ना ववन्ध । तं कीदृशं, इत्याह-मर्त्यलिङ्गं द्विभुजमनुष्याकृतिं, अधोक्षजं त्यक्तेन्द्रियक-सुखं स्वानुवन्धिसुखवन्तमित्यर्थः । प्राकृतं यथेत्युक्तेर्विज्ञान-घनत्वं स्पष्टं, विभोरेवमूर्तत्वञ्च ॥

श्रीमद्भागवत में लिखा है :—

जिनके भीतर तथा बाहिर पूर्व्वापर का भेद नहीं है प्रत्युत जगत् के भीतर और उसके बाहिर, पहिले और पीछे सदा वर्त्तमान हैं, तथा जो इन्द्रिय-ज्ञान से परे हैं—उन अव्यक्त भगवान् को अपराधी मानकर माँ यशोदा ने साधारण बालकों की भाँति रस्सी से ओखली में बाँध दिया ।*

---

* यहाँ पर 'अधोक्षज-अव्यक्त' और 'मर्त्यलिङ्ग' ये दोनों बात ही भगवान् की अचिन्त्य शक्ति में ही सम्भव है ।

श्रीगीतासुच :—

'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः' ।। [६।४]
'न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्'।। इति ।[६ । ५]

अचिन्त्या शक्तिरस्तीशे योगशब्देन योच्यते ।
विरोधभञ्जिका सा स्यादिति तत्वविदां मतम् ।।१०।।

मयेति । अव्यक्तमर्तिना प्रत्यग्विग्रहेण मयेदं सर्वं जगत् ततं व्याप्तं,सर्व भूतानि मत्स्थानि मया धृतानि न चाहं तेषु अवस्थितः, तैर्धृतो नाहम् । तानि च भूतानि कलसे जलानीव मयि न धृतानि, किन्तु मत्सङ्कल्पेनैव तानि धृतानि इति भावेनाह-न च मदिति । ननु कथमेवं सम्भवेदिति चेत्तत्राह-पश्येति । ईश्वरस्य ममासाधारणं योगं पश्येति ॥

युज्यते दुर्घटेषु कार्य्येष्वनेनेति व्युत्पत्तेरचिन्त्या शक्तिर्योगः।।१०।।

श्रीगीता में स्वयं प्रभु आज्ञा करते हैं:—

मेरी अव्यक्त-मूर्ति से यह समस्त संसार व्याप्त है। सम्पूर्ण प्राणियों को मैं ही धारण किये हुआ हूँ, किन्तु वे मुझे नहीं पा सकते, (इस संसार को जो मैं धारण करता हूँ सो घड़े के जल के समान न समझना—यह केवल सङ्कल्प-मात्र से धृत है) अतः 'एक प्रकार से वे मुझमें हैं भी नहीं ' इस विरोधी बात को सुनकर आश्चर्य मतकरो, सन्देह में मत पड़ो अर्जुन!देखो-

आदिना सर्वज्ञत्वं, यथा मुण्डके :-

'यः सर्व्वज्ञः सर्ववित्'। इति। [१। १। ६] [२। २। ७]

आनन्दित्वञ्च, तैत्तिरीयके :—

'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन'। इति। [२। ६। १]

विभुचैतन्यानन्दत्वादीत्यत्रादिपदग्राह्यमाह—आदिनेति। सर्वं जानातीति सर्वज्ञः, सर्वं विन्दतीति सर्ववित्॥

आनन्दमिति—ब्रह्मणो धर्म्मभूतमानन्दं विद्वान् कुतश्चन कालकर्म्मादेर्न बिभेति 'धर्म्मवेदी विमुच्यते' इत्यर्थः॥

यही तो हमारा ऐश्वर्य्य है!

भगवान् में जो अचिन्त्य शक्ति है उसी का नाम योग (योगमाया) है, और वही शक्ति परस्पर विरोधी कार्यों को एकत्र सम्विष्ट करने वाली है यही तत्त्व वेदियों का सिद्धान्त है॥१०॥

(च) 'विभुचैतन्यानन्दत्वादि' यहाँ आदि शब्द से सर्वज्ञता सिद्ध है मुण्डकोपनिषद् में लिखा है:—

जो भगवान् सब जानते हैं और जिन्हें सब कुछ प्राप्त है।

आनन्दत्व का निर्देशन तैत्तिरीयक में भी किया है:—

उस ब्रह्म के धर्म्मभूत आनन्द को जानने वाला व्यक्ति काल-कर्म्म आदि से कभी नहीं डरता है।

प्रभुत्व-सुहृत्व-ज्ञानदत्व मोचकत्वानिच, श्वेताश्वतरश्रुतौ :—

'सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं सुहृत्'। इति। [३। १७]

'प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी'। इति। [४। १८]

'संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुः'। इति च। [६। १६]

माधुर्यञ्च, श्रीगोपालोपनिषदि—

'सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्।
द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम्'॥ इति।

[१५ पूर्वतापिनी १०]

सर्वस्येति। प्रभुत्वं प्रभावशालित्वं, ईशानत्वम्, नियन्तृत्वम्, सौहार्द्यं निर्निमित्तहितकारित्वम्॥ प्रज्ञाचेति। तस्मादुपासितादीशात् जीवानां पुराणी सनातनी प्रज्ञा धर्म्मभूतासम्वित् प्रसृता भवति प्रकटीभवतीत्यर्थः।

माधुर्यञ्चेति। मनुष्यभावेनैव पारमैश्वर्य्यसाध्यकार्य्यकारित्वं-तदित्यर्थः। यथा स्तनचूषणेन पूतनाप्राणहरणम्, कोमलाङ्घ्रिहत्या-तिकठोरशकटभङ्गः, सप्ताब्दिकया मूर्त्या गिरिराजस्य धारण-मित्यादि। मनुष्यभावमुदाहरति-सत्पुण्डरीकेति॥

उनकी प्रभुता सौहार्द, ज्ञानप्रदत्व और मोचकत्व के विषय में श्वेताश्वतर कहता है :-

वह सब के प्रभु शासक और रक्षक हैं, तथा अकारण कल्याण करने वाले हैं। उन उपासित परेश के द्वारा जीवों को सनातनी प्रज्ञा (धर्मभूतासम्वित्) प्राप्त होती है। वे सांसारिक बन्धनों से छुड़ाने के एकमात्र कारण हैं॥

उनकी मधुरिमा के विषय में श्रीगोपालोपनिषद् में लिखा है:-

सुन्दर कमल के समान नयनवाले जलद के समान-

न भिन्ना धर्म्मिणो धर्म्मा भेदभानं विशेषतः ।
यस्मात्कालः सर्वदास्तीत्यादिधी विंदुषामपि ॥११॥

ननु विभुत्वादयो धर्म्मा हरेर्भिन्ना न वा ? नाद्यः । 'एवं धर्म्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानु विधावति' [कठ ४ । १४] इति तद्भेदनिषेधकश्रुतिव्याकोपात् । नान्त्यः, प्रत्याख्येयनैर्गुण्यापत्तेरिति चेत्तत्र समाधिर्न भिन्ना इति, भेदाभावेऽपि विशेषाद्भेदकार्यमस्ति इति न नैर्गुण्यापत्तिः । विशेषश्च भेदप्रतिनिधिर्न भेदः । नन्वेवं कुत्र दृष्टम् ? तत्राह—यस्मात् काल इति । आदिना सत्तासतीत्यादिसङ्ग्रहः । अत्र कालस्य कालाश्रयत्वं, सत्तायाश्च सत्ताश्रयत्वं, भेदाभावेऽपि यथा प्रतीयते, तथा प्रकृतेऽपीत्यर्थः । अत्राधिकन्तु सुसूक्ष्माद् गोविन्दभाष्यादधिगन्तव्यम् ॥११॥

सुन्दर कान्तियुक्त विद्युत् के समान पीताम्बरधारी द्विभुज ज्ञानमुद्रा से युक्त वनमालाधारी ईश्वर श्रीकृष्ण का ध्यान करो।

अब शङ्का यह है कि परेश के विभुत्व आदि जो धर्म्म हैं वे उनसे पृथक् हैं या नहीं ?

यदि हैं तो जिस भाँति वर्षा का जल किले से नीचे की ओर दौड़कर आता है उसी भाँति यदि 'विभुत्वादि धर्म्मों को श्रीभगवान् से पृथक् देखें तो मानों उन्हीं के पीछे दौड़ना है' इस श्रुति से विरोध होगा, यदि नहीं तो हम आगे जिस निर्गुणत्व का खण्डन करेंगे उसी दोष में स्वयं आवद्ध हो जायेंगे। इस स्थल पर विचारणीय यह है कि जिस प्रकार 'काल' सर्वदा

एवमुक्तं नारदपञ्चरात्रे:—
'निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः।
आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्वत्र च स्वगतभेदविवर्जितात्मा' ॥
इति।

निर्दोषेति। मुग्धत्वादिदोषशून्यः सार्वज्ञ्यादिगुणपूर्णो विग्रहो यस्य स भगवान् विष्णुः, किं मायिनामिव विशुद्धसत्तात्मकस्तस्य विग्रह-स्तत्राह, निश्चेतनात्मकेति। चिद्विग्रहो विशेषाच्चिद्गुणकतया प्रतीत इत्यर्थः। किंसांख्यानामिव चिदेकधातुस्तत्राह-आनन्दमात्रेति। चिदानन्दविग्रह इत्यर्थः। किं विष्वक्सेनानुयायिनामिव देहदेहि-भेदवान्? तत्राह-सर्वत्रेति। देहदेहिभावे गुणगुणिभावेच स्वगत-भेदेनाऽपि रहित इत्यर्थः। त्रिविधो हि भेदः। आम्रः पनसो नेति सजातीय भेदः, आम्रः पाषाणो नेति विजातीय भेदः, आम्र-पुष्पाणि आम्रो न इति स्वगतो भेदः॥

है' 'सत्ता है' 'देश सर्वत्र है' इसी प्रकार 'काल' 'सत्ता' 'देश' से जो अनभिज्ञ हैं उन्हें हम 'काल' 'सत्ता' और 'देश' का ज्ञान करा सकते हैं इसको छोड़कर और दूसरा उपाय ही नहीं है क्योंकि इन उपर्युक्त वाक्यों में 'सर्वदा' और 'सर्वत्र' यह शब्द व्यर्थ है क्योंकि काल 'सर्वदा' है ही 'सत्ता' है ही और 'देश' सर्वत्र है ही यह कहा गया है।

इसी भाँति श्रीहरि के 'विभुत्व' 'आनन्दत्व' आदि धर्मों के ज्ञानार्थ अथवा श्रवण कीर्तन स्मरणार्थ विशेष (पदार्थ) के द्वारा धर्म और धर्मी में भेद प्रतीति करनी ही पड़ेगी और

अथ नित्यलक्ष्मीकत्वं यथा विष्णुपुराणे—

'नित्यैव सा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी ।
यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम !' इति ॥
[१ । ८ । १५]

**विष्णोः स्युः शक्तयस्तिस्रस्तासु या कीर्तिता परा ।
सैव श्रीस्तदभिन्नेति प्राह शिष्यान् प्रभुर्महान् ॥१२॥**

नित्यैवेति । अनपायिनी नित्यसम्बद्धा स्वरूपानुबन्धिनीत्यर्थः ॥ एतत्प्रतिपादयितुं विष्णोः स्युरिति । ननु क्वचित् नित्यमुक्तजीवत्व लक्ष्म्याः स्वीकृतं, तत्राह-प्राहेति । नित्यैवेति पद्ये सर्वव्याप्ति-कथनेन, कलाकाष्ठेत्यादिपद्यद्वये, शुद्धोऽपीत्युक्त्या च महाप्रभुणा स्वशिष्यान् प्रति लक्ष्म्या भगवदद्वैतमुपदिष्टम् । क्वचिद्यत्तस्यास्तुद्वैत-मुक्तं, तत्तु तदाविष्टनित्यमुक्तजीवमादाय सङ्गतमस्तु ॥१२॥

दूसरा उपाय ही नहीं है, किन्तु वास्तव में उनमें कोई भेद नहीं है सुतरां पूर्वोक्त-श्रुति एवं 'निर्गुणता के खण्डन' में कोई प्रतिपत्ति नहीं है ॥ ११ ॥

नारदपञ्चरात्र में लिखा है:—

मुग्धता आदि दोषों से रहित, सर्वज्ञता आदि गुणों से पूर्ण जड़ शरीर के गुणों से हीन, वह परमात्मा स्वतन्त्र है। उनके हाथ-पाँव मुख उदर आदि सब आनन्द मात्र हैं, और देह देही तथा गुण-गुणी भाव में सर्वत्र स्वगत भेद * से भी रहित है ॥

(छ) भगवान् का नित्य-लक्ष्मीकत्व विष्णुपुराण से ज्ञात है:—

---

* भेद तीन प्रकार के हैं—सजातीय, विजातीय और स्वगत,

तत्र त्रिशक्तिर्विष्णुः, यथा श्वेताश्वतरोपनिषदि :—
'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानवलक्रिया च'।इति।
[६ । ८]

परास्येति । स्वाभाविकी वह्न्युष्णता इव स्वरूपानुवन्धिनी, ज्ञानवलक्रिया, सम्वित्–सन्धिनी–ह्लादिनीरूपा क्रमाद्बोध्या ॥

हे द्विजोत्तम ! वह जगन्माता लक्ष्मी विष्णु की नित्यशक्ति हैं। जैसे श्रीविष्णु सर्वगत हैं वैसे ही लक्ष्मी भी सर्वव्यापिनी हैं।

श्रीमन्महाप्रभु ने निजशिष्यों से कहा था कि—विष्णु की तीन शक्तियाँ हैं, उनमें जो पराशक्ति के नाम से विख्यात है वही लक्ष्मी हैं, और वह विष्णु से अभिन्न हैं।

विष्णु की तीन शक्तियों का प्रमाण श्वेताश्वतर में भी लिखा है:—

अग्नि में उष्णता के समान भगवान् की स्वाभाविक अनेक शक्तियां हैं जिनमें ज्ञानशक्ति वलशक्ति और क्रियाशक्ति प्रधान कहाती हैं। यहीं सत्तारूपा सम्वित्शक्ति, चिद्गुणमयीसन्धिनी शक्ति और आनन्दगुणमयी ह्लादिनी शक्ति के नाम से विख्यात हैं।

वृक्षत्व समान रहने पर भी आम और जामुन के पेड़ का भेद सजातीय भेद है। आम के वृक्ष में और पत्थर के टुकड़े में जो भेद है वह विजातीय भेद है और आम के बौर और आम में जो भेद है उसे स्वगत भेद कहते हैं।

'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः'। इति च। [६ । १६]
श्रीविष्णुपुराणे च :--
'विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा।
अविद्याकर्म्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते'॥ इति।
[६ । ७ । ६१]
परैव विष्ण्वभिन्ना श्रीरित्युक्तं तत्रैव :--
'कलाकाष्ठानिमेषादि कालसूत्रस्य गोचरे।
यस्य शक्तिर्न शुद्धस्य प्रसीदतु स नो हरिः'॥
[१ । ६ । ४४]

विष्णुशक्तिरिति। अविद्येति कर्म्मेति च संज्ञा यस्याः सा अन्या तृतीया शक्तिस्त्रिगुणामायेत्यर्थः॥

कलेति। कलादिलक्षणोयःकालस्तदेव सूत्रं जगच्चेष्टानियामकत्वाद्रज्जुः तस्य गोचरे विषये, यस्य पराख्या शक्ति र्नास्ति,स विष्णुर्नः प्रसीदतु।

वह गुणेश भगवान् प्रधान (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (जीव) के पति हैं। यह क्षेत्रज्ञ शक्ति भगवान् की अपराशक्ति कही जाती है।

विष्णुपुराण में उक्त है:—

भगवान् की तीन शक्ति हैं उनमें पहिली पराशक्ति है, दूसरी अपरा को क्षेत्रज्ञा शक्ति कहते हैं,और तीसरी अविद्याकर्म्म-नाम्नी त्रिगुणमयी मायाशक्ति है।

पराशक्ति विष्णु से अभिन्ना है यह भी वहीं लिखा है:—

जिनकी शक्ति कला काष्ठा और निमेष आदि काल सूत्र की दृष्टि के बाहिर है वह भगवान् हरि हम लोगों पर प्रसन्न हों।

'प्रोच्यते परमेशो यः यः शुद्धोऽप्युपचारतः ।
प्रसीदतु स नो विष्णुरात्मा यः सर्वदेहिनाम्' ॥ इति
[१ । ६ । ४५]

एषा परैव त्रिवृदित्यप्युक्तं, तत्रैव :—

'ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित् त्वय्येका सर्वसंश्रये ।
ह्लादतापकरीमिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते' ॥ इति ।
[१-१२-६६]

यः केवलःपराभेदरहितोऽप्युपचारात् परमेशः प्रोच्यते । परा चासौ माच लक्ष्मीस्तस्या ईशः स्वामीति निगद्यते इत्यर्थः, यः प्रसिद्धः स नः प्रसीदतु । स्फुटमन्यत् ॥

एषेति । त्रिवृत् त्रैरुप्येण विभाता । ह्लादिनीति । ह्लादात्मापि, यया ह्लादते भवति ह्लादवान् सा ह्लादिनी । सदात्मापि यया सत्तां धत्ते सा सर्वदेशकालव्याप्तिहेतुः सन्धिनी । सम्विदात्मापि यया संवेत्ति सा सम्वित् । एका विशेषबलनिर्भातभेदकार्यापि निर्भेदेत्यर्थः । सत्वांशेन ह्लादकरी, रजोंऽशेन तापकरी, या मिश्रा त्रिगुणा शक्तिः सा त्वयि नो वर्तते, कुत इत्यत्राह, गुणवर्जिते मायागुणास्पृष्टे इत्यर्थः ।

जो शुद्ध होने पर भी उपचार से परमेश कहाते हैं, ❀ वे सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मा विष्णु हम पर प्रसन्न हों ।

इसी पराशक्ति के तीनभेद विष्णुपुराण में भी उक्त हैः—

सबके आधार-स्वरूप आपमें वह पराशक्ति ह्लादिनी-

❀ परः श्रेष्ठो मायाः लक्ष्म्याः ईशः स्वामी सः परमेशः ।

एकोऽपि विष्णुरेकापि लक्ष्मीस्तदनपायिनी ।
स्वसिद्धैर्बहुभिर्वेशैर्बहुरित्यभिधीयते ॥ १३ ॥

तत्रैकत्वे सत्येव विष्णोर्बहुत्वं, यथा श्रीगोपालोपनिषदि :—

'एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति ।
तं पीठस्थं ये तु यजन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्' ॥इति।
[पूर्व० २०]

यथा श्रीनारदपञ्चरात्रे—'मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युतः । रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथा विभुः' ॥ इति । मणिरत्र वैदूर्य्यम् । नीलपीतादयस्तद्गुणाः एवम् । एकमेव परं तत्वं पुरुषोत्तमतया स्त्र्युत्तमतया च द्वेधा प्रकाशते । तस्य तस्याश्च वैदूर्यमणिवद् बहूनिरूपाणि सन्तीत्याह—एकोऽपीति । स्वसिद्धैः स्वरूपानुबन्धिभिर्वेशैः संस्थानैर्बहुर्बह्वी चोच्यते ॥ १३ ॥

एकइति । बहुधा मत्स्यकूर्मादिरूपप्राकट्येन ॥

सन्धिनी और सम्वित् रूप से स्थित है । हाँ ह्लाद (आनन्द) और ताप (दुःख) मयी मिश्रा (त्रिगुणा) शक्ति अवश्य आपसे दूर है क्योंकि आप मायागुण से परे हैं ।

श्रीविष्णु और उनकी नित्य सम्बद्धा लक्ष्मी अपने स्वतंत्र सिद्ध विविध वेशों से अनेक रूप में रहते हैं इससे अनेक से प्रतीत होते हैं ॥ १३ ॥

भगवान् एक होने पर भी विविध रूप से दृष्ट होते हैं, यह श्रीगोपालोपनिषद् में लिखा है :—

सर्वव्यापी योगेश्वर एक मात्र श्रीकृष्ण ही पूज्य हैं जो

अथ लक्ष्म्यास्तद्यथा—

'परास्य शक्तिर्विविधैवश्रूयते' ॥ इत्यादि ।

[श्वेताश्वतर० ६।८]

पूर्तिः सार्वत्रिकी यद्यप्यविशेषा तथापि हि ।
तारतम्यञ्च तच्छक्तिव्यक्त्यव्यक्तिकृतं भवेत् ॥१४॥

अथेति । तद्बहुत्वम् परास्येति । विविधा जानकीरुक्मिण्यादिरूप-प्राकट्येन नानारूपा ॥
'विष्णोर्लक्ष्म्याश्चावतारेषु पूर्तिर्यद्यपि तुल्या, तथापि गुणप्राकट्य तारतम्यादंशांशिभावोऽप्यस्तीत्याह—पूर्तिरिति । सार्वत्रिकी सर्वेष्व-तारेषु वर्तमाना अविशेषातुल्या ॥ १४ ॥

एक होने पर भी मत्स्य-कूर्म्म आदि अवतार भेद से विविध रूप में प्रकाशमान हैं। सर्वोच्च-स्थित उन श्रीकृष्ण की जो धीर-पुरुष पूजा करते हैं; उनको ही नित्य सुख मिलता है, अन्य को नहीं।

इनकी पराशक्ति श्रीजानकी श्रीरुक्मिणी आदि विविध रूप से प्रकाशित हैं।

यद्यपि अवतारों में श्रीविष्णु और लक्ष्मीकी पूर्णता समान है तथापि गुण प्रकाश के तारतम्य से उनमें अंश भेद दृष्ट होता है ॥१४॥

तत्र, विष्णोः सार्वत्रिकी पूर्तिर्यथा वाजसनेयके:—

'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' ॥ इति ।

[वृहदारण्यक० ५।१।१]

पूर्णमिति । अदोऽवतारिरूपम् , इदम् अवताररूपम् उभयं पूर्णं सर्वशक्तिमत् पूर्णादवतारिरूपात् पूर्णमवताररूपं लीलाविस्ताराय स्वयमुदच्यते प्रादुर्भवति । तल्लीलापूर्तौ पूर्णस्यावताररूपस्य पूर्णं स्वरूपमादाय स्वस्मिन्नैक्यं नीत्वा, पूर्णमवतारिरूपमन्यत्राविलीनं सदवशिष्यते तिष्ठतीत्यर्थः । अत्र ऐक्यमुक्तं, पार्थक्येन स्थितिश्चोच्यते, तदिदं यथेष्ट बोध्यम् ॥

श्रीविष्णु की सार्वत्रिकी पूर्णता का उल्लेख वाजसनेयक में मिलता है :—

भगवान् का अवतारी रूप और अवतार रूप दोनों ही पूर्ण हैं, अर्थात् सर्वशक्तिसम्पन्न हैं, पूर्ण (अवतारी रूप) से पूर्ण (अवतार रूप) लीलाप्रकाशनार्थ प्रादुर्भूत होते हैं, और लीला प्रकाश के अनन्तर पूर्ण (अवताररूप) का सम्पूर्ण स्वरूप आकर्षण कर पूर्ण (अवतारी रूप) में स्थित रहते हैं ।※

※ पूर्ण -स्वरूप को अवतारी और अंश को अवतार कहते हैं सुतरां भगवान् श्रीकृष्ण सर्वावतारी तथा मत्स्य-कूर्म प्रभृति अवतार हैं ।

महावाराहे च :—

'सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्यपरात्मनः ।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ॥
परमानन्दसन्दोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वतः ।
सर्वे सर्वगुणैः पूर्णाः सर्वदोषविवर्जिताः' ॥ इति ।

अथ श्रियः सा यथा श्रीविष्णुपुराणे :—

'एवं यथा जगत्स्वामी देवदेवो जनार्दनः ।
अवतारं करोत्येष तथा श्रीस्तत्सहायिनी ॥

सर्व इति । शाश्वताः जगति पुनः पुनराविर्भाविनो देहाः स्वरूपानुबन्धिनो विग्रहाः, स्वरूपानुबन्धित्वादेव हानेन उपादानेन च वर्जिताः । स्फुटार्थमन्यत् ॥

अथेति । सा पूर्तिः । तामुदाहरति–एवं यथा इति । प्रकटार्थम् ।

महावाराहपुराण में कहा गया है :—

उन परमात्मा श्रीकृष्ण के जितने अवताररूप हैं वे सब नित्य और चिरन्तन हैं । हान (त्याग) तथा उपादान (ग्रहण) से रहित हैं, क्योंकि वे प्राकृतिक नहीं हैं ।

भगवान् के समस्त रूप सर्वज्ञान-सम्पन्न परमानन्दमय और विविध गुणों से पूर्ण होने के साथ-साथ समस्त दोषों से रहित हैं ।

लक्ष्मी की सार्वत्रिक पूर्णता विष्णुपुराण में कही गई है:- देवाधिदेव जगन्नाथ जब जैसा अवतार धारण करते हैं उसी प्रकार उनकी सहायभूता श्रीदेवी उनके साथ प्रादुर्भूत होती हैं ।

पुनश्च पद्मादुद्भूता आदित्योऽभूद्यदा हरिः ।
यदा च भार्गवो रामस्तदाभूद्धरणीत्वियम् ॥
राघवत्वेऽभवत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि ।
अन्येषु चावतारेषु विष्णोरेषा सहायिनी ॥
देवत्वे देवदेहेयं मानुषत्वे च मानुषी ।
विष्णोर्देहानुरूपां वै करोत्येषात्मनस्तनुम्' ॥ इति ।
[८।१।६।१४०—१४३]

देवत्व इति । करोति प्रकटयति ॥

जब भगवान् सूर्य के रूप में प्रकाशित हुए तब कमलिनी में श्री का विकास हुआ, जब उन्होंने भार्गव (परशुराम) रूप धारण किया तब वे धरणी हुईं और जब भगवान् ने राघव रूप में दर्शन दिया तब वे श्री जानकी रूप से प्रादुर्भूत हुईं तथा जब श्रीकृष्णरूप में अवतीर्ण हुए तब लक्ष्मीदेवी साक्षात् रुक्मिणी रूप में प्रकाशित हुईं; इसी भाँति औरऔर अवतारों में भी लक्ष्मीदेवी सर्वदा श्रीकृष्ण की सहचारिणी रही हैं । जब हरि देवरूप में प्रकट हुए तब श्रीलक्ष्मी देवी रूप धारण कर उनके साथ प्रकट हुईं और लीलामय जब मानव मूर्ति में पधारे तब आप भी मानवी होकर उनकी अनुगामिनी होगईं । तात्पर्य यह कि श्रीविष्णु के अवतार के अनुसार श्रीदेवी भी निजरूप प्रकाशित करती हैं ।

स्यात् स्वरूपसती पूर्तिरिहैक्यादिति चिन्मतम् ॥१५॥

अथ तथापि तारतम्यम्, तत्र श्रीविष्णोस्तद्यथा, श्रीभागवते :—

'एते चांशकला: पुंस: कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्'। इति ।
'अष्टमस्तु तयोरासीत् स्वयमेव हरि: किल'। इति च ।

स्यात् इति । एषु वाक्येषु सैव सर्वत्रेति सर्वेषां प्रादुर्भावानाम् अभेदात् सर्वेषु तेषु स्वरूपसती पूर्तिरस्त्येवेति श्रुतियुक्तिविदां मतम् इत्यर्थः । अन्यथा स्वरूपपूर्तेरभावे तदभेदो गौण: स्यात् ॥१५॥

अथेति । यद्यप्यविशेषा पूर्तिरस्ति तथापि तारतम्यमंशांशिभावोऽप्यस्ति इत्यर्थ: । एते चेति । एते चतुर्विंशति:, पुंसो गर्भोदशायिनोंऽशकला: कथिताः । तन्मध्यपठित: श्रीकृष्णस्तु स्वयं भगवान् अनन्यापेक्षिरूपो मूलमित्यर्थ: ॥

अष्टमस्त्विति—तयोर्देवकीवसुदेवयोः ॥

अवतारों की यह पूर्णता अभिन्नता के कारण स्वाभाविकी है यह श्रुति-वेत्ताओं का मत है ॥१५॥

इतना होने पर भी अवतारों में तारतम्य है, विष्णु-अवतार का तारतम्य श्रीभागवत में लिखा है :—

यह जो अवतार कहे गए हैं सब पूर्ण पुरुष के अंश या कला के अवतार हैं और श्रीकृष्ण ही पूर्ण पुरुष स्वयं भगवान् हैं ।

वसुदेव देवकी के अष्टम-पुत्ररूपेण स्वयं भगवान् 'श्रीकृष्ण' थे ।

अथ श्रियस्तद्यथा पुरुषबोधिन्यामथर्वोपनिषदि :--

'गोकुलाख्ये माथुरमण्डले' इत्युपक्रम्य 'द्वे पार्श्वे चन्द्रावली राधिकाच' इत्यभिधाय परत्र, 'यस्या अंशे लक्ष्मीदुर्गादिका शक्तिः'। इति ।

गौतमीयतन्त्रे च:--

'देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा' ॥ इति ।

अथेति । श्रियस्तत्तारतम्यम् । गोकुलाख्य इति । अत्रांशिन्याः श्रीराधायाः लक्ष्म्यादयोंऽशाः इत्यर्थो विस्फुटः । दुर्गात्र मन्त्रराजाधिष्ठात्री, नतु प्राकृती ॥

देवीति । राधिका देवी परेत्यन्वयः । अतः कृष्णमयी कृष्णात्मिका, तथापि परदेवता कृष्णार्चिका सर्वलक्ष्मीमयी पुरुषबोधनीति श्रुतेः, निखिलानां लक्ष्मीणामंशिनी, सर्वासां तासां कान्तिरिच्छा पूज्यत्वाभिलाषो यस्यां सा, सम्मोहिनी कृष्णानुरञ्जिका ॥

इसी प्रकार लक्ष्मीदेवी के अवतारोंमें भी तारतम्य है । अथर्वोपनिषद् के एक प्रसङ्ग में:—

'मथुरामण्डलान्तर्गत गोकुल नामक स्थान में' यहाँ से आरम्भ कर'दोनों ओर चन्द्रावली और राधिका स्थित हैं' यह वाक्य लिखा है एवं इसके आगे कहते हैं--'जिनकी अंशभूता लक्ष्मी और दुर्गा आदि शक्ति हैं' अर्थात् श्रीराधिका पूर्ण और लक्ष्मी दुर्गा आदि उन्हीं की अंशभूता हैं।*

गौतमीयतन्त्र में भी इसकी पुष्टि का प्रमाण मिलता है:--

---

* यहाँ दुर्गा शब्द से प्राकृतदुर्गा का ग्रहण नहीं है प्रत्युत श्रीमन्त्र-

अथ नित्यधामत्वम् आदिशब्दात्, यथा छान्दोग्ये :—

'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः' ॥ इति ।

'स्वेमहिम्नि' ॥ इति ।

मुण्डके च :—

'दिव्ये पुरे ह्येष संव्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः' ॥ इति ।

[२। २। ७]

"नित्यलक्ष्म्यादिमत्वा" दित्यत्रादिपदग्राह्यमाह–अथेति ।
भगवः भगवन् हे सनत्कुमार ! स भूमाख्यो हरिरित्यादि प्रश्नः, महिम्नीति तदुत्तरम् ॥

दिव्य इति । पुरे विचित्रप्रासादादिशालिनि ॥

श्रीकृष्णमयी परदेवता श्रीराधादेवी ही सर्वलक्ष्मीमयी हैं, वे सम्पूर्ण शोभा से युक्त और श्रीकृष्णके मनोरञ्जन को करनेवाली हैं ।

(ज) ❀आदि शब्द से नित्यधामत्व का प्रमाण छान्दोग्य-उपनिषद् बताता है :—

हे भगवः ! (सनत्कुमार !) वह भूमाख्य हरि कहाँ प्रतिष्ठित हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया–'वे अपनी महिमा में विराजमान हैं' ।

मुण्डकोपनिषद् में भी लिखा है :—

राजाधिष्ठात्री अप्राकृत दुर्गादेवी समझना चाहिए जो श्रीराधिका के अंशावतार रूप से विख्यात हैं ।

❀ कारिका १० में "नित्यलक्ष्म्यादिमत्वाच्च" कारिका के आदि शब्द का सङ्केत है ।

ऋक्षु च: —

'तां वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गाः अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि'। इति।

[ऋग्वेद १।१५४।६]

श्रीगोपालोपनिषदि च :--

'तासां मध्ये साक्षाद्ब्रह्मगोपालपुरी हि'॥ इति।

[उत्तर० ३५]

तानिति—तां तानि, वां युवयो राधिकाकृष्णयोर्वास्तूनि गृहाणि गमध्यै प्राप्तुम् उश्मसि कामयामहे। यत्र येषु गावो भूरिशृङ्गाः प्रशस्तविषाणाः सन्ति। अयासः शुभावहविधिरूपाः, [अयः शुभावहो विधि' रित्यमरः] वाञ्छितदात्र्य इत्यर्थः। अत्रार्थे श्रुतिराह। वृष्णः भक्तेच्छावर्षिणः कृष्णस्य, तत् परमम्, पदं, भूरि प्रचुरमवभाति, नास्त्यस्य संख्येत्यर्थः॥

तासामिति। सप्तानां पुरीणां मध्ये, गोपालस्य पुरी मथुरा, साक्षात् ब्रह्म, तत्पराख्यशक्तिरूपत्वेन ताद्रूप्यात् अभिव्यक्तबृहद्-गुणत्वाच्च॥

यह आत्मा-पुरुष हरि प्रकाशमय विचित्रप्रासादादियुक्त अपने पुरमें प्रतिष्ठित हैं।

ऋग्वेद में लिखा है:--

हम आप लोगों (श्रीराधाकृष्ण) के उन गृहसमूहों में पहुँचनेकी इच्छा करते हैं जहाँ विशालशृङ्गयुक्ता बड़ी-बड़ी गाएँ सम्पूर्ण वाञ्छित पदार्थों को देने वाली विद्यमान हैं, भक्तों की इच्छा पूर्ण करने वाले श्रीकृष्ण का वह परम पद निरन्तर महाप्रकाश से देदीप्यमान होरहा है।

श्रीगोपालोपनिषद् में लिखा है: --

जितन्ते स्तोत्रे (श्रीनारदपञ्चरात्रे श्रीब्रह्मनारद सम्वादे) च: —

'लोकं वैकुण्ठनामानं दिव्याषाड्गुण्यसंयुतम् ।
अवैष्णवानामप्राप्यं गुणत्रयविवर्जितम् ॥
नित्यसिद्धैः समाकीर्णं तन्मयैः पाञ्चकालिकैः ।
सभाप्रासादसंयुक्तं वनैश्चोपवनैः शुभम् ॥
वापीकूपतडागैश्च वृक्षषण्डैः सुमण्डितम् ।
अप्राकृतं सुरैर्वन्द्यमयुतार्कसमप्रभम्' ॥ इति ॥

लोकमित्यादिप्रस्फुटार्थम् । पाञ्चकालिकैरिति । अभिगमनोपादानेज्याध्ययनसमाधयःपञ्च कालास्तत्परायणैरित्यर्थः ॥

उन * पूर्व वर्णित सात पुरियों के मध्य में श्रीगोपाल की पुरी मथुरा साक्षाद्ब्रह्म स्वरूपा है श्रीकृष्ण का नित्यधाम भी उन्हीं की 'परा' शक्ति रूप है इसलिये उसे साक्षाद्ब्रह्म भी कहा गया है।

जितन्त स्तोत्र में भी कहा है:—

अवैष्णवों को अप्राप्य तीनों (सत्व रज तम) माया के गुणों से रहित, नित्य सिद्धों (मुक्ति को लात मार कर जिन्होंने श्रीभगवान की सेवा ही करना मुख्य समझा है) से व्याप्त, अभिगमन (साथ २ जाना) उपादान (तत्तत्समय की आवश्यक-सामग्रियों का संग्रह करना) इज्या (पूजा) अध्ययन (उन्हींके गुणानुवाद गान करना) और समाधि (चिन्तन) इन पाँच 'कालों' के अनुष्ठान करनेवालों से नित्य परिषेवित, सभा, प्रासाद (महल) वन, उपवन, वापी (बावड़ी) कूप-

---

* अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका । पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ।

ब्रह्मसंहितायाञ्च :—

'सहस्रपत्रं कमलं गोकुलाख्यं महत्पदम् ।
तत्कर्णिकारं तद्धाम तदनन्तांशसम्भवम्' ॥ इति । [५।२]

सहस्रेति । महतः स्वयं भगवतः पदं स्थानं, ['पदं व्यवसिति त्राण-स्थान लक्ष्माङ्घ्रि वस्तुषु'-इत्यमरः] अनन्तस्य सङ्कर्षणस्यांशेन सम्भवः प्राकट्यमनादितो यस्य तत् ॥

तालाब, तथा विविध-वृक्षों से सुशोभित, इन्द्रादिक देवता-गण जिसकी वन्दना करते हैं, जहां सदा कोटि-सूर्यों का सा प्रकाश रहता है, जो दिव्य छै गुणों (ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य) से युक्त और प्रकृति के उपादनों से वर्जित (चिन्मय) है वही वैकुण्ठ-नामक लोक (बृहत्व-गुण-युक्त अनन्त धाम) है।

ब्रह्म-संहिता में भी लिखा है :—

उन श्रीभगवान् का गोकुलनामक स्थान सहस्रपत्र कमल-स्वरूप है, उसी के मध्यस्थित कर्णिकाररूप धाम ही भगवान् का है। उन्हीं श्रीभगवान्को अनन्त शक्ति के अंश श्रीसङ्कर्षणात्मक से इसकी उत्पत्ति कही गई है, यहां पर यह सन्देह हो सकता है कि महिम, संव्योम और ब्रह्म आदि शब्द से जो श्रीभगवान् के स्थान कहे गये हैं वे प्रकृति-मण्डल (माया के तीनों गुणों) से बाहिर हैं फिर ये प्रकृति-मण्डल के भीतर मथुरा गोकुल श्रीनन्दग्राम आदि स्थान उनके कैसे हो सकते हैं? इसी का उत्तर यहां दिया जा रहा है :—

प्रपञ्चे स्वात्मकं लोकमवतार्य महेश्वरः ।
आविर्भवति तत्रेति मतं ब्रह्मादिशब्दतः ॥ १६॥
गोविन्दे सच्चिदानन्दे नरदारकता यथा ।
अज्ञैर्निरूप्यते तद्वद्धाम्नि प्राकृतता किल ॥ १७ ॥

अथ नित्यलीलत्वञ्च, तथाहि श्रुतिः —
'यद्गतं भवच्च भविष्यच्च' ॥ इति । [बृह० ३ । ८ । ३]

ननु महिमादिशब्दवाच्यं हरेः पदं प्रकृतिमण्डलाद्बहिः श्रुतं, तन्मण्डलान्तस्थं मथुरादि तस्य पदमित्येतत् कथम्? तत्राह प्रपञ्च इति । लोकस्य स्वात्मकत्वे हेतुः—ब्रह्मादिशब्दत इति । आदिना महिमसंव्योमशब्दसंग्रहः । एवं तर्हि मथुरादौ प्राकृतत्वं कुतः स्फुरति तत्राह-गोविन्द इति। नरदारकता प्राकृतमनुष्यबालकता॥१६-१७

अथेति । यदिति बृहदारण्यके । यद्गतं ब्रह्मनिष्ठं गुणकर्म नित्यं, गत भवत् भविष्यच्छब्दैस्तस्य त्रैकालिकत्वप्रत्ययात् ॥

जब महेश्वर श्रीभगवान् की प्रकट होने की इच्छा होती है तब ब्रह्म महिम और संव्योम शब्द से कहे जाने वाले अपने लोकों को इस मायामय प्रपञ्च में उतार कर वहां पर अवतीर्ण होते हैं। सत् चित् आनन्दमय श्रीगोविन्द को मनुष्यबालक नहीं समझना चाहिये न उनके धाम को ही प्राकृत समझना चाहिये जो इस तत्व को नहीं जानते वे अज्ञ हैं ॥ १६-१७ ॥

श्रीभगवान ने जो लीला यहाँ पर की हैं वे लीला नित्य हैं ऐसा श्रुतिगण प्रतिपादन करती हैं:—

बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है:—

ब्रह्मनिष्ठ (श्रीभगवान् के) गुण कर्म त्रैकालिक नित्य हैं ।

'एको देवो नित्यलीलानुरक्तो भक्तव्यापी भक्तहृद्यन्तरात्मा'इति च।

स्मृतिश्च :—

'जन्मकर्मच मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन' ॥

[श्रीमद्भगवद्गीता ४-६]

एको देव इति । पिप्पलादशाखायाम् । अत्र लीलायाः नित्यत्वं वाचनिकम् ॥

जन्मेति । श्रीगीतासु दिव्यमप्राकृतं नित्यमिति यावत् ॥

गत, भवत् और भविष्यत् शब्द से तीनों काल का बोध होता है ।

पिप्पलादशाखा में भी है:—

नित्यलीला में अनुरक्त केवल एक मात्र देव हैं, किन्तु उनकी नित्य लीला उन्हींके भक्तों को ज्ञात हो सकती है ।

श्रीगीता में भी कहा है:—

हे अर्जुन ! जो मनुष्य तात्विक-दृष्टि से मेरे जन्म (अवतार) और कर्म (लीलाओं) को दिव्य (नित्य) जानता है वह इस पाञ्चभौतिक-शरीर को त्यागकर मेरे ही पास आजाता है अर्थात् मेरी ही नित्य लीला में रहता है उसका पुनः संसार में जन्म नहीं होता ।

रूपानन्त्याज्जनानन्त्याद्धामानन्त्याच्च कर्म्म तत् ।
नित्यं स्यात्तदभेदाच्चेत्युदितं तत्त्ववित्तमैः ॥१८॥

इति प्रमेयरत्नावल्यां भगवत्-पारतम्यप्रकरणं प्रथमप्रमेयम्

ननु लीलायाः नित्यत्वं शब्दात् प्रतीतम्, युक्तिविरहात्तदपुष्टमिति चेत्तत्राह—रूपानन्त्यादिति । अत्राहुः—लीलायाः क्रियात्वात् प्रत्यवयवमप्यारम्भसमाप्तिभ्यां तस्याः सिद्धिर्वाच्या, ताभ्यां विना न तस्याः स्वरूपं सिद्धयेत् । तथा चारम्भसमाप्तिमत्तया विनाशित्वध्रौव्यात् कथं सा नित्येति चेत्? उच्यते । परात्मनः सदैवाकारानन्त्यात् पार्षदानन्त्यात् स्थानानन्त्याच्च नानित्यत्वं तस्याः, तत्तदाकारगतयोस्तत्तदारम्भसमाप्त्योःसत्वेऽप्येकत्रैकत्र तत्तत्क्रियावयवा यावत् समाप्यन्ते न समाप्यन्ते वा, तावदेवान्यत्रान्यत्राप्यारब्धाः स्युरित्येवमविच्छेदान्नित्यत्वं सिद्धम् । ननु मास्तु विच्छेदः, पृथगारम्भादन्यैव सेति चेत् ? उच्यते। समयभेदेनाभ्युदितानामप्येकरूपाणां क्रियाणामैक्यम् । यथा चोक्तं'द्विः पाकोऽनेन कृतो नतु द्वौ पाका'विति 'द्विर्गोशब्दोऽयमुच्चारितो नतु द्वौ गोशब्दा' विति प्रतीतिनिर्णीतिशब्दैक्यवदिदं द्रष्टव्यम् । तदेतदाह-तदभेदाच्चेति । तेषां रूपादीनां चतुर्णां भेदविरहादित्यर्थः॥१८॥

इति प्रमेयरत्नावल्यां भगवत्पारतम्यप्रकरणं व्याख्यातम्

यहाँ यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि शास्त्रों के द्वारा तो लीलाओं का नित्यत्व ज्ञात होगया किन्तु यह युक्ति के विरुद्ध है, कारण नित्य वस्तु सदा 'एक सी' होती है एवं लीलाओं के

कर्म्म होने से उनमें कुछ न कुछ परिवर्त्तन अवश्यम्भावी है फिर लीलाएँ नित्य कैसे होसकती हैं ? इसी के उत्तर-स्वरूप उपर्युक्त 'रूपानन्त्यात्' कारिका की उद्भावना हुई :—

इसका स्पष्टार्थ यह है कि जब भगवान् के अवतार पार्षद परिकर लोक अनन्त हैं तब उनकी लीलाएँ भी अनन्त हैं किन्तु यहाँ समझने का यह विषय है कि वे अवतारादि अनन्त होते हुए भी परस्पर अभिन्न हैं क्योंकि भगवान् विभु हैं।

जिस प्रकार एक लोक में पार्षदों द्वारा लीला प्रारम्भ होने पर उसकी समाप्ति अथवा असमाप्ति पर ही दूसरे लोक में अभिन्न उपकरणों द्वारा वही लीला प्रारम्भ हो जाती है इसी प्रकार अन्यान्य अनन्तलोकों में अहर्निश होने वाली लीलाओं का अनन्तत्व तथा नित्यत्व स्वतः सिद्ध है इसमें भला किसे शङ्का होसकती है।

इसी का दृष्टान्त यह है जिस प्रकार देवदत्त ने दो वार 'रसोई की' इसका यह तात्पर्य्य नहीं कि देवदत्त ने दो उपकरणों से दो रसोई एक साथ चढ़ादी प्रत्युत एक रसोई समाप्त होने पर उन्हीं बटला आदि उपकरणों से दूसरी बार रसोई की इसी प्रकार श्री भगवान् अपने पार्षद परिकर अवतार लोक आदि के सहित अनेक रूप (जो वास्तव में अभिन्न हैं) धारण कर अनेक लीलाएँ कर रहे हैं।

॥ इति प्रमेयरत्नावल्यां प्रथम-प्रमेयम् ॥

अथ द्वितीय-प्रमेयम्

अखिलाम्नायवेद्यत्वप्रकरणम् ।

अथाखिलाम्नायवेद्यत्वं, यथा श्रीगोपालोपनिषदि :—

'योऽसौ सर्वैर्वेदैर्गीयते' ॥ इति ।

[उत्तरतापनीय २७]

काठके च:—

'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति' ॥इति।

[१।२।१५]

श्रीहरिवंशे च:—

'वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते' ॥

सर्ववेदबोध्यत्वं हरेर्वक्तुमाह-अथेति । योऽसाविति । यः श्रीगोपालः कृष्णः ॥

सर्वे इति। यत् पदं यद्ब्रह्माख्यं वस्तु, 'पदं व्यवसितित्राणे'त्याद्युक्तेः॥

वेदे रामायणे इति स्फुटार्थम् ॥

'श्रीहरि ही सब शास्त्रों द्वारा जाने जाते हैं' यह श्रीगोपालतापिनी में कहा है:—

वही श्रीहरि सब वेदों द्वारा गाये जाते हैं ।

कठोपनिषद् में लिखा है:—

'सम्पूर्ण वेद उस ब्रह्म वस्तु का ही प्रतिपादन करते हैं और उसी की प्रीति के लिए सम्पूर्ण तप आदि क्रियानुष्ठान हैं'।

श्रीहरिवंशपुराण में भी लिखा है:—

समस्त वेद रामायण पुराण महाभारत ही नहीं प्रत्युत समस्त शास्त्रों के आदि मध्य और अन्त में सर्वत्र भगवान् श्रीहरि ही गान अर्थात् प्रतिपादित किए गये हैं ।

साक्षात् परम्पराभ्यां वेदा गायन्ति माधवं सर्वे ।
वेदान्ताः किल साक्षादपरे तेभ्यः परम्परया ॥१॥

ननु वेदेषु कर्म्मप्रतिपादनं भूरि दृष्टं, कथमुक्तोदाहरणानि-संगच्छेरन् इति चेत् ? तत्राह—साक्षादिति । वेदान्ताः साक्षान्माधवं गायन्ति, तेभ्योऽपरे वेदाः कर्मकाण्डानि तु परम्परया, तज्ज्ञानाङ्ग-हृद्विशुद्धिकरकर्म्मविधानपरीपाट्येतिसर्ववेदवेद्यत्वंहरेः सूपपन्नम् ॥१ ॥

यहाँ किसी को यह शङ्का हो कि वेदों में तो कर्मकाण्ड का विषय मुख्यतः कहा गया है और यहाँ उक्त वाक्यों द्वारा वेदों से श्रीहरि का प्रतिपादन किया गया है सैद्धान्तिक दृष्टि से,यह सर्वथैव असम्भव है । इसी का समाधान यह है:—

वेदों के वेदान्तभाग अर्थात् उपासनाकाण्ड द्वारा श्रीहरि का साक्षात् ज्ञान किया जाता है और *कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड में परम्परा द्वारा श्रीभगवान् का प्रतिपादन किया गया है यह सर्वथैव निर्विवाद है और यही सम्पूर्ण शास्त्रों का अभिमत है ॥१॥

---

* हृदय की शुद्धि करने वाला कर्मकाण्ड है उसके बाद ज्ञान-काण्ड से हृदय में किसी वस्तु के धारण करने की शक्ति होती है तभी श्रीभगवान् का शुद्ध सत्वमय विज्ञान हृदय में उदय होता है ।

क्वचित् क्वचिदवाच्यत्वं यद्वेदेषु विलोक्यते।
कात्स्न्येन वाच्यं न भवेदिति स्यात्तत्र सङ्गतिः॥
अन्यथा तु तदारम्भो व्यर्थः स्यादिति मे मतिः ॥२॥

ननु 'यतो वाचो निवर्तन्ते' [तैत्तिरीय० २। ४। १, २।६।१] इत्यादौ हरेर्वेदावाच्यत्वं दृष्टं, तत्र का गतिरिति चेत्तत्राह-क्वचिदिति। दृष्टोऽपि मेरुः कात्स्न्येनादर्शनाददृष्टो यथोच्यते तद्वत्। अन्यथा सर्वथा तदवाच्यत्वे तज्ज्ञानाय वेदाध्ययनारम्भो निरर्थकः स्यात् ॥२॥

यदि सब वेदों के प्रतिपाद्य श्रीहरि ही हैं तब 'जहाँ से वाणी भी मन के साथ उन्हें बिना प्राप्त किए लौट आती हैं' इत्यादि श्रुतियों में बुद्धि मन वाणी आदि की जो असमर्थता प्रकट की गई है उसका यही अर्थ है कि जिस प्रकार हिमालय देखने वाला व्यक्ति हिमालय के उन्नत शृङ्गों को देखने पर भी 'एककालावच्छेद में समस्त हिमालय नहीं देख सका' यह कहता है उसी प्रकार वेदाध्यायी-जन एक काल में सम्पूर्ण ब्रह्म को कैसे जान सकता है ? इसी को यहाँ स्पष्टरूपेण लिख रहे हैं:—

वेद में कहीं-कहीं ब्रह्म को अवाच्य अर्थात् शब्द का अविषय कहा है किन्तु इन वेदवाक्यों का अन्यार्थ न होकर यही एकमात्र अर्थ है कि वेद सम्पूर्ण रूपेण ब्रह्मका वर्णन नहीं कर सकता, यदि इसभाँति वेद वाक्यों की सङ्गति न कर सम्पूर्ण रूप से 'ब्रह्म' शब्द का विषय नहीं है यह कहा जाय तब तो ब्रह्म-ज्ञान के लिये वेदाध्ययन ही व्यर्थ हो जायगा यही हमारा वास्तविक अभिमत है ॥२॥

शब्दप्रवृत्तिहेतूनां जात्यादीनामभावतः ।
ब्रह्मनिर्धर्मकं वाच्यं नैवेत्याहुर्विपश्चितः ॥३॥

शब्देति । निर्विशेषब्रह्मवादिनान्तु ब्रह्मणि जातिगुणक्रिया-संज्ञानामभावात्तद्वाचिभिर्वेदशब्दैनतद्वाच्यम् ॥३॥

'ब्रह्म' निर्विशेष है इस मत का निरसन किया जारहा है:—

* जाति गुण, क्रिया, संज्ञा यह चार 'वाचक' शब्द-प्रवृत्ति के कारण हैं अर्थात् इन चारों में से एक के द्वारा 'ब्रह्म' वाच्य होना आवश्यक है किन्तु 'ब्रह्म' में कोई धर्म नहीं है यह कहने वाले निधर्म्मक ब्रह्म-वादियों के मतसे 'ब्रह्म' में इन जाति आदि चारों का अभाव है अतः 'ब्रह्म' शब्द-शक्ति का विषय नहीं है यह विद्वानों का कहना है ॥३।

---

* शब्दार्थ ज्ञान में दो शक्ति हैं पहली अभिधा दूसरी लक्षणा अभिधा वाचक के द्वारा और लक्षणा लाक्षणिक के द्वारा अर्थज्ञान में कारण होती हैं किसी वस्तु में किसी शब्द का साक्षात् सङ्केत कर लेने का नाम है 'वाचक' जिस प्रकार गलकम्बलविशिष्ट पादचतुष्टययुक्त पिण्ड के लिए 'गो' शब्द सङ्केतित है यह 'गो' शब्द उक्त 'विशिष्टपिण्ड का वाचक हुआ, वाचक जाति गुण क्रिया नाम इन चार प्रकार से जाना जाता है।

सर्वैः शब्दैरवाच्ये तु लक्षणा न भवेदतः ।
लक्ष्यश्च न भवेद्धर्महीनं ब्रह्मेति मे मतम् ॥४॥

❀ इति प्रमेयरत्नावल्यां द्वितीयप्रमेयम् ❀

नच लक्षणया वेदशब्दानां तत्र प्रवृत्तेर्न तदारम्भो व्यर्थः इति चेत्? तत्राह-सर्वैरिति । सर्वशब्दावाच्यं ब्रह्म त्वया स्वीकृतम् । तत्र लक्षणा न सम्भवेत्, 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यत्र पिण्डशब्दवाच्ये पिण्डे भागलक्षणा दृष्टा ॥४॥

❀ इति प्रमेयरत्नावल्यां हरेर्वेदवेद्यत्वप्रकरणं व्याख्यातम् ❀

ब्रह्म सब शब्दों से अवाच्य है अतः वहाँ × लक्षणा नहीं हो सकती क्योंकि धर्महीन ब्रह्म लक्ष्य नहीं हो सकता यही हमारा अभिमत है ॥४॥

❀ इति प्रमेय-रत्नावल्यां द्वितीय प्रमेयम् ❀

× अभिधा द्वारा शब्दार्थज्ञान के पश्चात् लक्षणा होती है अर्थात् 'कीर्तन को बुलाओ कीर्तन' ध्वनि का नाम है ध्वनि मनुष्य के वश में नहीं जो बुलाई जासकती हो जब इतना अर्थबोध अभिधा द्वारा होजाय तब ही लक्षणा से काम लिया जासकता है अर्थात् कीर्त्तन करने वालों को बुलाओ यह अर्थ लक्षणा से जाना जाता है, यहाँ जब अभिधा के प्रवृत्तिनिमित्त जात्यादि को वे निर्विशेष--ब्रह्मवादी अस्वीकार कर चुके तब लक्षणा ही रही कहाँ ? अतः उन्होंने 'ब्रह्म' को निर्विशेष मानने में जो युक्तियां प्रदर्शित की हैं उनमें तनिक भी सार नहीं है ।

अथ तृतीय-प्रमेयम्

विश्वसत्यत्वप्रकरणम् ।

स्वशक्त्या सृष्टवान् विष्णुर्यथार्थं सर्वविज्जगत् ।
इत्युक्तेः सत्यमेवैतद्वैराग्यार्थमसद्वचः ॥ १ ॥

प्रपञ्चसत्यत्वं वक्तुमाह—अथेत्यादिना । स्वशक्त्येति । ननु 'तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपम्'[भागवत १० । १४ । २२] इत्यादि वाक्यं जगत्सत्यत्ववादिनां कथं सङ्गच्छेत् ? तत्राह — वैराग्यार्थमिति । अनित्यजगत्सुखतृष्णापरित्यागार्थमेव, नतु तन्मृषात्वार्थम्, तत्सत्यत्वे प्रमाणलाभादिति भावः ॥१॥

सर्वज्ञ श्रीभगवान् ने अपनी शक्तिद्वारा इस सत्य जगत् की सृष्टि की है अतः यह विश्व सत्य है इस विश्व को जो अनित्य कहते हैं उसका एकमात्र कारण यह है कि जीवों की इसमें आसक्ति न हो क्योंकि इस विश्व में किञ्चिन्मात्र भी आसक्ति होने से जीव श्रीभगवान् को भूलकर इसी के चक्र में पड़ा रहेगा। जगत् अनित्य होने पर भी असत्य नहीं है कारण इस विश्व के असत्यत्व में प्रमाण का अभाव है ॥१॥

तथाहि, श्वेताश्वतरोपनिषदि :—

'य एकोऽवर्णो वहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति' ॥
इति। [४ । १]

श्रीविष्णुपुराणे च :—

'एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा।
परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्' ॥ इति।
[१ । २२ । ५४]

स्वशक्त्येत्येतत्प्रमाणयति-य इति। य ईश्वरः स्वयमवर्णःब्राह्मणादिभिन्नः, स्वशक्तियोगादनेकान् ब्राह्मणादीन् वर्णान् दधाति उत्पादयतीत्यर्थः। ['वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ स्तुतौ रूपयशोऽक्षरे' इति विश्वः।] यद्वा स्वयम् अवर्णः रूपरहितोऽनेकान् शुक्लादीन् अर्थान्, निहितार्थः चेतसि धृतप्रयोजनः ॥

एकदेशेति। परमव्योमनिलयस्य हरेः शक्तिकार्य्यमेतत्, तदतिदूरम् इदं परिदृश्यमानं जगदिति समुदायार्थः ॥

श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है :—

जो अद्वितीय तथा अवर्ण (ब्राह्मणादि तथा शुक्लादि-वर्ण-रहित) होता हुआ अपनी शक्ति के योग द्वारा प्रयोजन-प्रयुक्त हो अनेक प्रकार के वर्णों (ब्राह्मणादि शुक्लादि) को बनाता है।

श्रीविष्णुपुराण में भी प्रतिपादित है :—

जिस प्रकार अग्नि एक स्थान पर स्थित रहकर भी अपना प्रकाश दूरों तक फैला देती है उसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् परब्रह्म की शक्ति से ही निर्म्मित हुआ है।

ईशावास्योपनिषदि :—

'स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्थाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः-
समाभ्यः'॥ इति । [ईशावास्य० ८]

यथार्थमिति सर्वविदिति च प्रमाणयति–सपर्यगादिति । स प्रकृत: परमात्मा परितोऽगात् सर्वं व्यापत् । शुक्रमित्याद्याः शब्दाः पुंस्त्वेन विपरिणाम्याः, स इत्युपक्रमात्, शुक्रो दीप्तिमान्, अकायोऽस्थाविर इति सूक्ष्मस्थूलदेहशून्यः, अव्रणः अक्षतः विनाशशून्यः शुद्धः रागाद्यनाविलः, अपापविद्धः कर्म्मशून्यः, कविः सर्वज्ञः, मनीषी चतुरः, परिभूः मायाभिभवी, स्वयम्भूः,निर्हेतुकः, याथातथ्यतः सत्यतया, ['ऋतं सत्यं समीचीनं सम्यक् तथ्यं यथातथम्' इति हलायुधः ।] अर्थान् महदादीन्, समाः सम्वत्सरान् व्याप्य, ['सम्वत्सरो वत्सरोऽब्दो हायनोऽस्त्री शरत्समाः' इत्यमरः]॥

ईशावास्योपनिषद् में सर्वज्ञ ने इसकी सृष्टि की है यह कहा है :—

वह परमात्मा सर्व–व्यापक शुक्र (दीप्तिमान्) अकाय (सूक्ष्म-शरीरशून्य) अव्रण (पूर्ण) अस्थाविर (स्थूल शरीर रहित) शुद्ध (प्रपञ्च के गुणत्रय से रहित) अपापविद्ध (मायिक-कर्म्मों से अस्पृष्ट) कवि (सर्वज्ञ) मनीषी (विचार-शील-चतुर) परिभू (सर्वोच्च) तथा स्वयम्भू (निर्हेतुक अर्थात् किसी हेतु के वश में हो कोई कार्य्य नहीं करता) आदि सकल गुण-सम्पन्न होता हुआ भी वह अनन्त काल से यथार्थतः महादादि तत्त्वों की सृष्टि करता आया है ।

श्रीविष्णुपुराणे च :—

'तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम् ।
आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पवत्' ॥ इति ।
[१ । २२ । ५८]

तदेतदिति । एतदीश्वरजीवप्रकृतिरूपम् अखिलं जगत्, हे मुनिवर ! अक्षयं नित्यं, प्रकृतिजीवरूपमक्षयं स्वरूपेण क्षयरहितं परिणामीत्यर्थः । प्रकृतेर्महदादितया जीवस्य च ज्ञानविकाशेन परिणामः, ईश्वररूपन्तु नित्यं कूटस्थम् । एतदेवाह—आविर्भावेति । ईश्वरांश आविर्भावतिरोभाववान् प्रकृतिजीवरूपोंऽशस्तु जन्मनाशवानिति वा पाठक्रममनादृत्य अर्थक्रमाद्व्याख्यातम् । पूर्वत्र हि —

'द्वे रूपे ब्रह्मणस्तस्य मूर्तञ्चामूर्त्तमेव च ।
क्षराक्षरस्वरूपे ते सर्वभूतेष्ववस्थिते ॥
अक्षरं तत्परं ब्रह्म क्षरं सर्वमिदं जगत्' ॥[विष्णु पु० १।२२।५३]

इत्युक्त्वा, तन्मध्ये 'ब्रह्म विष्ण्वीशरूपाणि' [विष्णु पु० १।१।५६] पठित्वा, तदन्तरं 'तदेतदि'ति पठितम् ॥

श्रीविष्णुपुराण में भी कहा है :—

हे मुनिवर ! यह ईश्वरांश जीव तथा प्रकृत्यंश देहरूप समस्त-संसार विनाश रहित और नित्य है अर्थात् उत्तरोत्तर ज्ञान-वृद्धि तथा ज्ञान के अनुसार परिवर्त्तित देह-प्राप्ति द्वारा परिणामी है, ईश्वरांशरूप जीव आविर्भावतिरोभावयुक्त तथा प्रकृतिभागरूपदेह जन्मनाशयुक्त है कभी-कभी इसमें कुछ अस्तव्यस्त रूप विकल्प भी हो जाता है ।

महाभारते च : —
'ब्रह्मसत्यं तपः सत्यं सत्यं चैव प्रजापतिः ।
सत्याद्भूतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत्' ॥ इति ।
[अश्वमेधपर्व ३५। ३४]

'आत्मा वा इद' मित्यादौ वनलीनविहङ्गवत् ।
सत्त्वं विश्वस्य मन्तव्यमित्युक्तं वेदवेदिभिः ॥२॥

❀ इति प्रमेयरत्नावल्यां तृतीय-प्रमेयम् ❀

ब्रह्मेति । सच्चिदानन्दं सत्यसङ्कल्पं यद्ब्रह्म तत् सत्यं, आलोचनात्मकं यत् तस्य तपःतत्सत्यं, तेन ब्रह्मणा स्वनाभिकमलादुत्पादितो यः प्रजापतिस्तत्सत्यं, सत्यात् तस्माज्जातानि भूतानि, अतो भूतमयं जगत् सत्यम् ॥

ननु 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' [ऐतरेय० १।१] इत्यादि श्रुतिषु पूर्व्वं परमात्मैक आसीत्, नतु प्रपञ्चोऽपि । 'आत्मैवेद-' मिति सामानाधिकरण्यव्यपदेशस्तु रज्जुभुजङ्गवत् आत्मनि तस्याध्यस्तत्वादेव ततो मिथ्यैव स इति चेत्? तत्राह—आत्मेति । वने लीनो विहङ्गो हि यथा तत्रास्त्येव, तथा आत्मनि लीनः प्रपञ्चः सौक्ष्म्येण अस्त्येव । अन्यथा सत्कार्यापत्तिः ॥२॥

❀ इति प्रमेयरत्नावल्यां विश्वसत्यत्वप्रकरणं व्याख्यातम् ❀

महाभारत में भी कहा है : —

सच्चिदानन्द सत्य-संकल्प स्वरूप ब्रह्म सत्य है, ब्रह्मा और उनका आलोचनात्मक तप भी सत्य है तथा इन सब सत्य वस्तुओं से उत्पन्न जीव भी सत्य है यही नहीं किन्तु इन सब प्राणियों से व्याप्त यह संसार भी सत्य है ।

अब 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतियों·

द्वारा यह ज्ञात होता है कि 'सृष्टि के पूर्व एकमात्र परमात्मा ही थे, प्रपञ्चात्मक-विश्व नहीं था अतः विश्वको सत्य कैसे कहा जासकता है ? क्योंकि यह दृष्ट-विश्व*अध्यास अर्थात् भ्रम-रूप है इसके उत्तर में कहा जाता है जिस प्रकार बड़े बड़े उद्यानों में पत्तियों के रहते हुए भी यही कहा जाता है कि अमुक उद्यान है 'पत्तियुक्त उद्यान है' ऐसा कोई नहीं कहता इसी प्रकार यह विश्व प्रलय-काल में 'उपवन में लीन पत्तियों' की भाँति परमात्मा में सूक्ष्मरूपेण लीन था अतएव जगत् मिथ्या नहीं प्रत्युत सत्य है यह वेदज्ञों का सिद्धान्त है ॥ २ ॥

इति प्रमेयरत्नावल्यां तृतीय-प्रमेयम्

---

*ज्येष्ठ-ज्ञानप्रयुक्तकनिष्ठज्ञान को 'अध्यास' कहते हैं। ज्येष्ठ-ज्ञान वह है जो प्रत्यक्षादि प्रमाण के द्वारा हो, जिस प्रकार 'घट' का प्रत्यक्ष ज्ञान होने के पश्चात् 'गज कुम्भ'को देखने पर यह स्मरण होता है कि गजकुम्भ भी घट सा होता है यही है कनिष्ठज्ञान, इन दोनों ज्ञानों का एक कालमें उदय होने का नाम है 'अध्यास', इसी प्रकार रज्जु में सर्प, सीपी में चांदी की भ्रान्ति होना ही अध्यास अर्थात् भ्रम है एवं ब्रह्म में जगत् की भ्रान्ति होना ही अध्यासवाद है। इस विषय में विशेष जिज्ञासा होने पर श्री सार्वभौम मधुसूदनगोस्वामिपादकृत 'ज्ञानेर-विकृति' अथवा 'सम्प्रदायतत्व' ग्रन्थ देखिये।

चतुर्थ-प्रमेयम्

भेदसत्यत्वप्रकरणम् ।

तथाहि श्वेताश्वतराः पठन्ति :--

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' ॥
[४। ६]

ईश्वराज्जीवानां भेदं वक्तुमाह-द्वेति ।'सुपां सुलुगि'[पाणि०७।१।३९] इत्यादिसूत्रादौ विभक्तेरात् । द्वौ सुपर्णौ पक्षिणौ जीवेशलक्षणौ समानमेकं वृक्षं देहं परिषस्वजाते स्वीकृत्य तिष्ठतः । जीवो भ गाय, ईशो नियमनाय इति बोध्यम् । तौ कीदृशावित्याह-सयुजौ सहयोगवन्तौ, सखायौ तत्तुल्यौ । तयोरन्य एको जीवः पिप्पलं कर्म्मफलं सुखदुःखरूपं स्वादु अत्ति । अन्य ईशस्तदनश्नन्नपि अभिचाकशीति प्रदीप्यते ॥

जीव और ईश्वर में भेद प्रतिपादन करता हुआ श्वेताश्वतरोपनिषद् कहता है:—

दो पक्षी जीव और ईश्वर रूप एक ही देह रूपी वृक्ष पर बैठे हैं दोनों में परस्पर सौहार्द है और दोनों एक दूसरे के सहायक हैं परन्तु जीव और ईश्वर इन दोनों में एक जीव ही सुखदुखःरूपात्मक-कर्म्मफल अत्यन्त आग्रह से भोगता है और दूसरा ईश्वर कर्मों को बिना भोग किये ही प्रकाशित होता है अर्थात् निस्तब्ध-भावसे पहिला जो करता है उसे देखता है ।

'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमेति वीतशोकः' ॥इति।
[श्वेताश्वतर० ४।७]

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥
इति तात्पर्यलिङ्गानि षड्यान्याहुर्मनीषिणः।
भेदे तानि प्रतीयन्ते तेनासौ तस्य गोचरः ॥१॥

समाने एकस्मिन् देहलक्षणे वृक्षे पुरुषो निमग्नो निरतः, अनीशया मायया मुह्यमानः सन् शोचति। यदा स्वस्मादन्यं भिन्नम् ईशं कल्याणगुणगणेन स्वेन च जुष्टं परिषेवितं पश्यति ध्यायति तदा वीतशोकः सन् अस्य महिमानं धामैति ॥

भेदे शास्त्रतात्पर्यम् दर्शयितुमाह—उपक्रमेति वृहत्संहितायाम्। उपक्रमोपसंहारयोरैकरूप्यमित्येकलिङ्गम्।'द्वा सुपर्णा'इत्युपक्रमः।'अन्यमीशमि'त्युपसंहारः। 'द्वे'ति,'तयोरन्यः'इति,'अनश्नन्' इति, अविशेषपुनःपुनःश्रुतिरभ्यासः। अणुत्ववृहत्त्वादिविरुद्धनित्यधर्म्मावच्छिन्नप्रतियोगिकतया भेदस्य शास्त्रं विना लोकादप्रतीतेरपूर्वता। 'वीतशोकः' इतिफलम्।'तस्य महिमानमेति'इत्यर्थवादः। 'अनश्नन्नि'ति उपपत्तिः। असौ भेदः, तस्य शास्त्रतात्पर्य्यस्य गोचरो विषयः ॥२॥

यही मुण्डकोपनिषद् कहता है:—

जीव एक ही देह रूप वृक्ष पर निमग्न हो दुःख को प्राप्त करता है और जब अपने से भिन्न ईश्वर को देखता अर्थात् ध्यान करता है तब सम्पूर्ण दुःख शोकों से छुटकारा पाकर उसी की महिमा (धाम) को प्राप्त होता है।

अब इन दोनों वचनों को तात्पर्य निर्णय की कसौटी-

पर कसकर देखते हैं कि यथार्थ में यह वचन भेदप्रतिपादक हैं अथवा नहीं।

तात्पर्य्य निर्णय के छः लिङ्ग अर्थात् चिह्न हैं:—

उपक्रम-उपसंहार,अभ्यास,अपूर्वता,फल, अर्थवाद और उपपत्ति।

इन्ही छः लिङ्गों को यहाँ स्पष्ट कर रहे हैं :-

*[१] उपक्रम [किसी विषय को प्रारम्भ करने के लिये भूमिका बाँधना] उपसंहार [किसी विषय की समाप्ति पर प्रतिपाद्य-विषय का सार कहना] [२] अभ्यास [जिसमें बारबार अपने प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख किया जाय] [३] अपूर्वता [जिस प्रकरणप्रतिपाद्यविषय का अन्य शास्त्रों में उल्लेख न हो उसको प्रतिपादन करना] [४] फल [परिणाम] [५] अर्थवाद [प्रशंसा निन्दान्यतर वाक्य] [६] उपपत्ति [प्रमेय में कारण तथा युक्तियां] यह लिङ्ग द्वैत में दृष्ट होते हैं सुतरां भेद तात्पर्य्य का विषय है ॥ १ ॥

यहाँ सन्देह हो सकता है कि यह भेद जो प्रतिपादन किये गये हैं वे व्यावहारिक अर्थात् कहने भर के हैं या वास्तवमें अभेद ही हैं ? क्योंकि इन छः लिङ्ग [चिह्नों] से सर्वदा वाक्यों का तात्पर्य ही जाना जा सकता है। तब 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' अर्थात्'ब्रह्म जानने वाला ही ब्रह्म होता है'"ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' ब्रह्मही होकर ब्रह्म प्राप्त किया जाता है'इत्यादि श्रुतियोंके इन दोनों वाक्योंको जब इनछः उपर्युक्त चिह्नोंकी कसौटीमें कसते हैं तब यही तात्पर्य समझ में आता है कि 'ब्रह्म ही ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है' अतः ज्ञात होता है कि यह दोनों वाक्य वास्तविक में भेद प्रतिपादन नहीं करते प्रत्युत केवल समझनेभर को भेद-प्रतिपादक-

---

* उपक्रम तथा उपसंहार दोनों का एक ही स्वरूप है।

किञ्च मुण्डके: —
'यदा पश्य: पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्य-पापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'॥ इति
[३ । १ । ३]
काठके च :—
'यथोदकं शुद्धेशुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम !'॥ इति। [४ । १ । १४]

ननु नैतानि लिङ्गानि भेदं साधयितुमेकान्तानि, तेषामभेद-साधनेऽपि दर्शितत्वात्। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' [मुण्डक० ३-२-६] 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' [बृह० ४-४-६] इति मोक्षदशायामभेदावधारणात् व्यावहारिको भेदः स्यादितिचेत्? तत्राह-किञ्चेति। यदेति। पश्यः ध्याता जीवः॥

यथोदकमिति। विजानतस्तदनुभाविनः॥

से प्रतीत होते हैं इसी सन्देह को आगे मुण्डकोपनिषद् वाक्य-द्वारा निरसन करते हैं।

मुण्डकोपनिषद् में भी लिखा है :—

जब जीव सोने के से वर्णवाले, [ज्योतिर्मय] समस्त-जगत् के कर्ता, वेदों के कारण, सबके प्रभु, परात्पर परमेश्वर को देखता अर्थात् ध्यान करता है तब ही वह बुद्धिमान् जीव पाप-पुण्य को त्याग करता हुआ उपाधि-रहित होकर परमेश्वर के अत्यन्त साम्य [नित्य सेवा] को प्राप्त होता है।

कठोपनिषद् में कहा है :—

हे गौतम ! जिस प्रकार शुद्ध जल में गेरा हुआ शुद्ध-जल उस गेरे हुये शुद्ध जल के समान होजाता है इसी प्रकार शुद्ध-सत्वमय उस ब्रह्म को जानने वाले मुनियों की आत्मा भी भगवत्सदृश होजाती है।

श्रीगीतासु च :—

'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च'॥ इति । [१४।२]

एषु मोक्षेऽपि भेदोक्तेः स्याद्भेदः पारमार्थिकः ।
ब्रह्माहमेको जीवोऽस्मि नान्ये जीवा न चेश्वरः॥२॥
मदविद्याकल्पितास्ते स्युरितीत्थञ्च दूषितम् ।
अन्यथा 'नित्य'इत्यादि श्रुत्यर्थोनोपपद्यते ॥३॥

इदमिति । उपाश्रित्य प्राप्य ॥

एष्वेति । एषु वाक्येषु साम्यमिति, तादृगेवेति, साधर्म्यमिति । मोक्षेऽपि भेदोक्तेस्तात्त्विको भेदः । एवञ्च ब्रह्मैवेत्यत्र ब्रह्मतुल्य इत्येवार्थः । ['एवौपम्येऽवधारणे']इति विश्वः ॥२॥

'स एव मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम्' [कैवल्योपनिषद् १२] इत्यादि श्रुत्यर्थभासमादाय शङ्करानुयायिनः केचित् कल्पयन्ति । ब्रह्मैवाविद्यया मोहितम्, एकोजीवो वास्तवः स च अहमेव, मदन्ये जीवा मदविद्यया कल्पिताः । सर्वेश्वराख्यः पुरूषश्च, चिदाभासाः सर्वे स्वाप्निका इव रथादयः । अथ ज्ञातात्मनि मयि चिन्मात्रतया अवस्थिते ते न भविष्यन्ति, स्वाप्निका इव रथादयःजागरे, इत्येक एव सत्यो जीव इति । तदिदं प्रत्याचष्टे—ब्रह्माहमिति । इत्थं मोक्षेऽपि भेदप्रतिपादनेन । अन्यथा पारमार्थिकभेदानाङ्गीकारे ॥३॥

श्रीगीता में स्वयं भगवान् ने कहा है :—

इस ज्ञान को आश्रय अर्थात् धारण कर मेरे स्वरूप को प्राप्त हुये पुरुष सृष्टि के आदि में पुनः उत्पन्न नहीं होते और न वे प्रलयकाल में ही व्याकुल होते हैं ।

इन उपर्युक्त श्रुति-वाक्यों द्वारा ज्ञात होता है कि मुक्त-

तथाहि कठाः पठन्ति :—

'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्तिधीरास्तेषां शान्तिःशाश्वती नेतरेषाम्॥इति [२ । २ । १३]

तां श्रुतिमुदाहरति । नित्य इति । आत्मनि मनसि स्थितम् ॥

दशा में भी जीव और ईश्वर का भेद रहता है अतः यह भेद ही वास्तविक अर्थात् यथार्थ है। 'वह ब्रह्म ही माया से मोहित होकर शरीर में स्थित होता हुआ शरीरस्थजीवों के कार्यों को करता है' इत्यादि श्रुतियों का अर्थाभास लेकर श्रीशङ्कराचार्य के अनुयायी यह कल्पना करते हैं :—

'मैं ही वास्तव जीव हूँ' 'मुझसे अन्य जो जीव हैं वे मेरी अविद्या से कल्पित हैं और 'मुझको छोड़कर और ईश्वर नहीं है' आदि यह मत विद्वानों की सम्मति में दूषित होने के कारण अमान्य है। यदि भेद को ही मिथ्या स्वीकार कर लिया जाय तो 'नित्यो नित्यानाम्' इत्यादि श्रुतियों के अर्थ की किस तरह सङ्गति होगी ? *

कठशाखिगण कहते हैं :—

जो परमेश्वर नित्य-जीव-प्रकृति-कालात्मक-नित्य-वस्तुओं में नित्यत्व चेतन–समूहों में चेतनत्व प्रदान करने के साथ साथ एक होकर भी अनेक जीवों की कामनाओं का विधान करते हैं उन अपने अन्तःकरण में स्थित परमेश्वर को जो धीर पुरुष ध्यान करते हैं उसीको शाश्वती अर्थात् निरन्तर शान्ति होती है, अन्य को नहीं।

---

* 'स एव माया०' 'अर्थात् वह ब्रह्म मैं ही हूँ' इत्यादि श्रुति में 'एव' का सदृश अर्थ जानने से कोई प्रतिपत्ति नहीं होगी।

एकस्मादीश्वरान्नित्याच्चेतनात्तादृशा मिथः ।
भिद्यन्ते वहवो जीवास्तेन भेदः सनातनः ॥४॥
प्राणैकाधीनवृत्तित्वाद् वागादेः प्राणता यथा ।
तथा ब्रह्माधीनवृत्तेर्जगतो ब्रह्मतोच्यते ॥ ५ ॥

श्रुत्यर्थं योजयति-एकस्मादिति । यः परेशो नित्यश्चेतन एको नित्यानां चेतनानां वहूनां जीवानां कामान् वाञ्छितानि, यथासाधनं विदधाति । तं ये धीराः पश्यन्ति ध्यायन्ति, तेषां शान्तिः संसार-दुःखनिवृत्तिः शाश्वतीति तदर्थः । न खलु नित्यानां चेतनानाम् अविद्याकल्पितत्वं प्रेक्षावता शक्यमभिधातुम्, इत्येकजीववादकण्ठ-कुठाररूपमेतद्वाक्यम् । तादृशा इति, नित्याश्चेतनाश्चेत्यर्थः तेनेति, नित्यानां चेतनानां नित्यात् चेतनाद् भेदप्रतिपादनेनेत्यर्थः ॥४॥

नन्वेवं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'तत्त्वमसि' इत्यादेः का गतिरिति चेत्? तत्राह-प्राणैकेति ॥५॥

नित्य, चेतन और बहुत से जीवों को अविद्याकल्पित तथा एक जीव नहीं कह सकते इसीको यहाँ स्पष्ट करते हैं : —

एक, नित्य और चेतनात्मक ईश्वर से अनेक, नित्य और चेतन जीव परस्पर में भिन्न हैं, सुतरां ईश्वर से जीव सनातनकाल से भिन्न है यही स्थिर-सिद्धान्त है ॥ ४ ॥

यदि जीव को ईश्वर से भिन्न मान लिया जाय तब 'सर्वं-खल्विदं ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियों के अर्थ की कैसे सङ्गति होगी ? इसीको यहाँ व्यक्त कर रहे हैं :—

तथाहि छान्दोग्ये पठ्यते :—
'न वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि मनांसीत्याचक्षते ।
प्राण इत्येवाचक्षते, प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति ।। इति ।
[५ १। १५]

ब्रह्मव्याप्यत्वतः कैश्चिज्जगद्ब्रह्मेति मन्यते ।।६।।

न वै इति, वागादीनामिन्द्रियाणां वागादिशब्दैर्नाभिधानं, किन्तु प्राणायतवृत्तिकत्वात् प्राणशब्देनैवाभिधानं, प्राणरूपत्वञ्च यथा भवति, एवंब्रह्मायतवृत्तिकत्वात् चिज्जडात्मकस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मशब्देनाभिधानं ब्रह्मरूपत्वञ्च इति।।

'यद्वि यद्व्याप्यं तत् तद्रूप'मिति सङ्केतान्तरेणापि तदद्वैतवाक्यं सङ्गमनीयमित्याह, ब्रह्मेति ।।६।।

जिस प्रकार वाक् चक्षु, श्रोत्रादि सम्पूर्ण इन्द्रियों को प्राण के अधीन होने से उनको प्राण ही कहा जाता है, उसीप्रकार इस सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म के अधीन होने के कारण 'ब्रह्म' ही कहा गया है ।।५।।

इन्द्रियों का प्राणाधीनत्व होना छान्दोग्योपनिषद् कहता है :—

'वाक्' 'चक्षु' ,'श्रोत्र' आदि इन्द्रियों को व्यष्टि-रूपसे न कहकर केवल प्राण ही कहा जाता है क्योंकि यह सम्पूर्ण इन्द्रियाँ एकमात्र प्राण-स्वरूप हैं ।

जगत् में 'ब्रह्म व्यापक' है 'इस जगत् की कोई भी वस्तु ब्रह्म से शून्य नहीं है' 'ब्रह्म ही जगत् को एक सूत्र से बाँधे हुए है' इसलिये ही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अथवा 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियों में 'जगत् को ब्रह्म कहा है' यह भी किसी का मत है ।।६।।

यदुक्तं श्रीविष्णुपुराणे :—

'योऽयं तवागतो देव ! समीपं देवतागणः ।
सत्यमेव जगत् स्रष्टा यतः सर्वगतो भवान्'॥इति। [१ । ६ । ६६]

प्रतिविम्बपरिच्छेदपक्षौ यौ स्वीकृतौ परैः ।
विभुत्वाऽविषयत्वाभ्यां तौ विद्वद्भिर्निराकृतौ ॥७॥

योऽयमिति श्रीविष्णुं प्रति देवानां वाक्यम् । स्फुटार्थम् । इत्थञ्च 'स एव भाये' त्यादौ जीवस्य परमात्मा भेदः । तदायत्तवृत्तिकत्वादिभ्यां व्याख्यातो वोध्यः ।

उपाधौ प्रतिविम्बितं तेन परिच्छिन्नं वा ब्रह्म जीवरूपं स्यात् उपाधेर्विगमे तु ब्रह्मैवैकमित्याहुः केवलाद्वैतिनः । तन्निराकर्तुमाह· प्रतिविम्बेति । ब्रह्मणो विभुत्वान्नैरूप्याच्च न तस्य प्रतिबिम्बम् परिच्छेद· विषयत्वास्वीकाराच्च न तस्य परिच्छेदः । वास्तवे परिच्छेदे टङ्कच्छिन्न-पाषाणखण्डवद्विकारित्वाद्यापत्तिः ॥७॥

इसी को श्रीविष्णु-पुराण में कहा है :—

हे देव ! आपके सत्य-स्वरूप होने के कारण आपके समीप आये हुए यह देवगण तथा यह जगत् सब सत्य है, क्योंकि आप अन्तर्यामी रूप से सब में स्थित हैं ।

जगत् में एक ब्रह्म तत्त्व ही सत्य स्वरूप है और जो कुछ दिख· लाई पड़ता है वह 'भ्रम' अथवा अविद्याकल्पित है एवं इसका स्वरूप प्रतिविम्ब तथा परिच्छेदवाद से जाना जाता है यह मायावादियों का सिद्धान्त है यह मायावाद कितना निस्सार तथा भित्ति-शून्य है इसका प्रतिपादन कर रहे हैं :—

उपाधि अर्थात् प्रपञ्चात्मक-विश्व में ब्रह्म का ※ प्रति-विम्ब ही जीव है वास्तव में जीव कोई तत्त्व नहीं है यह माया-वादियों का कहना है, इसीके उत्तर में कहते हैं जब वह ब्रह्म विभु और निर्विशेष अर्थात् रूपरहित है तब भला उसका प्रतिविम्ब कैसे पड़ सकता है ? क्योंकि प्रतिविम्ब तो किसी सीमित तथा रूपवान् वस्तु का ही पड़ सकता है सुतरां ब्रह्म के असीमित तथा रूपराहित्य के कारण यहाँ प्रतिविम्बवाद असम्भव है।

दूसरा परिच्छेदवाद यह है कि जिस प्रकार गेंद के भीतर का आकाश तथा फुटबोल के भीतर का आकाश परस्पर में भिन्न से प्रतीत होते हैं पर वास्तव में एक ही अर्थात् अखण्ड है इसी प्रकार 'ब्रह्म' भी अविद्या से आच्छन्न हो उपाधि में पृथक् प्रतीत होता है पर वास्तव में एक अर्थात् अखण्ड है, यह तभी संगत होसकता है जब परिच्छेद को अविद्याकल्पित न माना जाय किन्तु ऐसा न कर आप तो उसे भी अविद्या-स्वरूप मानते हैं तब भला अखण्ड निर्गुण तथा निर्विशेष ब्रह्म में परिच्छेदवाद क्यों कर हो सकता है ? यदि परिच्छेद वास्तविक हो तब टांकी से तोड़े हुए प्रस्तर-खण्ड की भाँति जीव भी ब्रह्म का खण्ड होगा, सुतरां 'प्रतिविम्ब' तथा 'परिच्छेदवाद' दोनों विद्वानों के मत से असंगत हैं ॥७॥

※ जिसप्रकार सूर्य का प्रतिविम्ब यावज्जल में उस जल के आकार प्रकार का सा ही बन जाता है उसीप्रकार उपाधि में ब्रह्म का प्रतिविम्ब उसी आकार प्रकार का बन जाता है।

अद्वैतं ब्रह्मणो भिन्नमभिन्नं वा त्वयोच्यते ।
आद्ये द्वैतापत्तिरन्ते सिद्धसाधनताश्रुतेः ॥८॥

क्षोदाक्षमात्वादप्यद्वैतं नाभ्युपेयमित्याह—अद्वैतमिति । जीवब्रह्मणोरद्वैतम् ब्रह्मणो भिन्नं न वा ? नाद्यः, द्वैतापत्तेः । नान्त्यः, प्रतिपादयन्त्याः श्रुतेः सिद्धसाधनतापातात्, अद्वैतं हि ब्रह्मात्मकमतः सिद्धं तदस्ति किं तत्प्रतिपादनेन ॥८॥

ब्रह्म और जीव परस्पर में 'अद्वैत' हैं ऐसा मानने वालों के सिद्धांत में जो प्रतिबन्ध है इसी को यहाँ स्पष्ट करते हैं:—

अद्वैतवादियों से पूछा जाय कि आप जीव और ब्रह्म के अद्वैतवाद को आप ब्रह्म से भिन्न कहते हैं या अभिन्न ? यदि उसे भिन्न कहा जाय तो यहाँ द्वैतसिद्धि होगई यदि अभिन्न तो 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ही ब्रह्म हूँ) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (ब्रह्म-सर्व-व्यापक है) 'तत्त्वमसि' (वह तुम ही हो) इत्यादि अद्वैत-प्रतिपादक श्रुतियों से सिद्ध-साधनता दोष आता है अर्थात् जो बात स्वयं या दूसरी श्रुतियों के अर्थ से सिद्ध है उसी बात को अन्य प्रकार से कथन करना ही शास्त्रकारों ने सिद्ध साधनता दोष माना है यहाँ जब 'ब्रह्म सर्व-व्यापक है 'ब्रह्म विभु है' इत्यादि श्रुतियों के अर्थ द्वारा ही स्वयं सिद्ध है फिर उसे आप अद्वैत-कहते हैं यही आपके कथन में सिद्ध-साधनता दोष है ॥८॥

'साक्षी चेता; केवलो निर्गुणश्च' इत्यादि श्रुतियों के अनु-सार केवल निर्गुण ब्रह्म ही वास्तव वस्तु है, अन्य पदार्थ उपाधि-कल्पित है इस मायावादियों की शङ्का को निरसन करते हुए पुनः उसे यहाँ संक्षिप्त रूपेण कह रहे हैं :—

अलीकं निर्गुणं ब्रह्म प्रमाणाविषयत्वतः ।
अश्रद्धेयं विदुषां नैवेत्यूचिरे तत्त्ववादिनः ॥६॥

* इति प्रमेयरत्नावल्यां चतुर्थ-प्रमेयम् *

ननु 'साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च '[श्वेता० ६। ११] इति श्रुतेः निर्गुणमेव ब्रह्म वास्तवम् ? तत्राह—अलीकमिति । न तावत् निर्गुणे ब्रह्मणि प्रत्यक्षं प्रमाणं रूपाद्यभावात् । नाप्यनुमानं, तद्व्याप्यलिङ्गाभावात् । न च शब्दः प्रवृत्तिनिमित्तानां जात्यादीनां तस्मिन्नभावात् । न च तत्र भागलक्षणया भाव्यं, सर्व्वशब्दावाच्ये तदसम्भवादिति पूर्वमेवोक्तम् ॥६॥

❀ *इतिप्रमेयरत्नावल्यां भेदसत्यत्वप्रकरणं व्याख्यातम्* ❀

ब्रह्म में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाणों के अभाव के कारण ब्रह्म निर्गुण ही है यह कैसे कह सकते हैं ? सुतरां अद्वैतवाद विद्वानों की सम्मति से अश्रद्धेय तथा अमान्य है यह तत्त्ववादियों का कहना है ।

* इति प्रमेयरत्नावल्यां चतुर्थ–प्रमेयम् *

---

* निर्गुण ब्रह्म में रूपादिकों के अभाव के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता, अनुमान प्रत्यक्ष से व्याप्तिग्रह होने के पश्चात् होता है जब प्रत्यक्ष ही नहीं तो अनुमान कैसे ? शब्द प्रमाण में प्रवृत्तिनिमित्त जाति गुण क्रिया नाम की आवश्यकता होती है यहाँ इनका वास्तविक अभाव है अतः शब्द प्रमाण की प्रवृत्ति ही नहीं है एवं इसके साथ-साथ यहाँ लक्षणा या गौणी वृत्ति का भी अभाव है क्योंकि जब प्रधान वृत्ति अभिधा ही यहां नहीं है तब उसकी अनुसारिणी लक्षणा भला कैसे रह सकती है ; कारण लक्षणा अभिधा की अनुगामिनी है और भाग लक्षणा की यहाँ योग्यता ही नहीं है । इत्यादि ।

पञ्चम-प्रमेयम्

अथभगवद्दासत्वप्रकरणम् ।

अथ जीवानां भगवद्दासत्वम् ।

तथाहि श्वेताश्वतराः पठन्ति :--

'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं दैवतानां परमञ्च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्' ॥ इति ।
[६ । ७]

जीवानां हरिदासत्वं प्रतिपादयितुमाह-अथेति । ननु हरिदासत्वे स्वरूपसिद्धे किमर्थम्,उपदेशः, इतिचेत् ? तदभिव्यक्त्यर्थः स उपदेश इति गृहाण । एवमाह श्रुतिः-'घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते वसति विज्ञानम् । सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थानदण्डेन'। [ब्रह्मबिन्दु २०] इति । तमिति ईश्वराणां चतुर्मुखादीनाम् देवतानाम् इन्द्रादीनाम्, पतीनां दक्षादीनाम् ॥

जीव भगवद्दास है यह श्वेताश्वतरोपनिषद् कहता है :—

ब्रह्मा रुद्र प्रभृति ईश्वरों के परम महेश्वर इन्द्रादि देवों के परम-देव दक्षादि प्रजापतियों के पति सर्वोत्कृष्ट अखिल-भुवन के ईश तथा सब के स्तुति करने योग्य देव को हम परतत्व से प्राप्त होते हैं ।

स्मृतिश्च :--

'ब्रह्मा शम्भुस्तथैवार्कश्चन्द्रमाश्च शतक्रतुः ।
एवमाद्यास्तथैवान्ये युक्ता वैष्णवतेजसा' ॥ इत्याद्या ।
'सब्रह्मकाः सरुद्राश्च सेन्द्रा देवा महर्षिभिः ।
अर्चयन्ति सुरश्रेष्ठं देवं नारायणं हरिम्' ॥ इत्याद्या च ।

पाद्मे च जीवलक्षणे :—

'दासभूतो हरेरेव नान्यस्यैव कदाचन '॥ इति ।

* इति प्रमेयरत्नावल्यां पंचम-प्रमेयम् *

ब्रह्मादीनामैश्वर्य्यं परमात्मदत्तमित्याह-ब्रह्मेति ॥

दासभूत इति । नान्यस्य ब्रह्मरुद्रादेः ॥

** इतिप्रमेय-रत्नावल्यां जीवानां हरिदासत्व-प्रकरणं व्याख्यातम् **

स्मृति में लिखा है :—

ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, चन्द्र प्रभृति देवगण वैष्णव अर्थात् विष्णु के तेज से प्रकाशित हैं।

ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्रादिक-देवगण महर्षियों के सहित उन सुर-श्रेष्ठ भगवान् श्री नारायण का पूजन करते हैं।

पद्मपुराण में भी जीव का लक्षण कहा है :—

जीव केवल श्रीहरि का ही दास है और किसी देव का कभी अनुगत नहीं।

इति प्रमेयरत्नावल्यां पंचम-प्रमेयम्।

षष्ठ–प्रमेयम्

अथ जीवानां तारतम्यप्रकरणम् ।

अणुचैतन्यरूपत्वज्ञानित्वाद्यविशेषतः ।
साम्ये सत्यपि जीवानां तारतम्यञ्च साधनात् ॥१॥

तत्राणुत्वमुक्तं श्वेताश्वतरैः :—
'वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते' ॥ इति । [५ । ६]

जीवानां तारतम्यं वक्तुमाह–अथेति । अणु इति । आदि-शब्दात्कर्तृत्वभोक्तृत्वापहतपाप्मत्वादीनि ग्राह्याणि । साधनादिति । कर्म्मरूपात् भक्तिरूपाच्चेत्यर्थः । कर्मतारतम्यादैहिकं, भक्तितार-तम्यात्तु पारत्रिकं फलतारतम्यं बोध्यम् ॥१॥

वालाग्रेति । स च जीवो भगवत्प्रपन्नः सन् आनन्त्याय मोक्षाय कल्पते, अन्तो मरणं, तद्राहित्याय इत्यर्थः ॥

इन जीवों में परस्पर समानता होते हुए भी साधन से तारतम्य होजाता है, इसे यहाँ स्पष्ट करते हैं :—

[१] यह जीव बहुत छोटा है, [२] चैतन्य-स्वरूप है, [३] सीमित-ज्ञान वाला है, [४] अपने आप कर्मों का कर्ता और उनके फलों का भोक्ता है, [५] अच्छे कामों को छोड़ कर बुरे कामों में शीघ्र प्रवृत्त होने वाला है ।

श्वेताश्वतर- शाखिगण जीवके अणुत्व के विषय में कहते हैं:—

केश के अग्रभाग के सोवें हिस्से को यदि सौ हिस्सों में विभक्त किया जाय तो उसी सौवें हिस्से के समान जीव सूक्ष्म है । इस तरह के संसार में अनन्त जीव हैं ।

चैतन्यरूपत्वं ज्ञानित्वादिकञ्च षट्प्रश्न्याम् :—

'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता
वोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः'॥ [प्रश्न ४। ६] इति।

आदिना गुणेन देहव्यापित्वञ्च श्रीगीतासु :—

'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत!'॥ इति। [१३। ३३]

ज्ञानित्वादिकञ्च इत्यत्रादिपदात् कर्तृत्वभोक्तृत्वे। एष हीति। एष विज्ञानात्मा पुरुषो जीवस्तस्य द्रष्टेत्यादिना रूपादि-भोगः प्रस्फुटः। प्रकृतेः कर्तृत्वे 'यजेत्, ध्यायेत्' इत्यादि श्रुति-वैयर्थ्यं, समाध्यभावश्च। प्रकृतेरन्योऽहमस्मीति समाधिः। न चैष जडायास्तस्याः सम्भवेत्, न च स्वस्य स्वान्यत्वं सम्भवति॥

यथेति विशदार्थम्॥

जीव का चैतन्य स्वरूप और ज्ञानी आदि होने का प्रमाण षट् प्रश्नी में कहा है :—

यह जीव ही द्रष्टा, (देखने वाला) स्प्रष्टा, (छूने वाला) श्रोता, (सुनने वाला), घ्राता, (सूंघने वाला) रसयिता, (रसलेने वाला) मन्ता, (मननशील) वोद्धा, (जानने वाला) कर्ता और विज्ञाता है।

'ज्ञानित्वाद्यविशेषतः' इस मूल की कारिका के आदि-शब्द से जीव का गुणों के द्वारा देह में व्याप्त रहना भी सिद्ध है। जैसा श्री गीता में कहा है :—

हे अर्जुन! जिस प्रकार एक सूर्य समस्त लोक को प्रकाशित करता है उसी प्रकार क्षेत्री (जीवात्मा) समस्त क्षेत्र (देह) को प्रकाशित कर देता है।

आह चैवं सूत्रकार: :—
'गुणाद्वालोकवत्'। [ब्रह्मसूत्रम् २ । ३ । २४] इति ।
गुणनित्यत्वमुक्तं वाजसनेयिभि: :—
'अविनाशी वा अरे अयमात्मानुच्छित्तिधर्म्मा' ॥ इति ।
[बृह० ४ । ५ । १४]

गुणाद्वेति । आलोको दीपादिर्यथा प्रभाख्यगुणात् कृत्स्नं गेहं व्याप्नोति, एवं चेतनाख्यगुणात् कृत्स्नं देहं जीव इत्यर्थः ॥

अविनाशीति । अरे मैत्रेयि ! अयमात्मा जीवः, स्वरूपतोऽविनाशी । अनुच्छित्तय उच्छेदरहिता धर्म्मा ज्ञानादयो यस्य सः अनुच्छित्तिधर्मा, गुणतोऽप्यविनाशीत्यर्थः । न चानुच्छित्तिरेव धर्मो यस्य इति व्याख्यातव्यम् । अस्यार्थस्य अविनाशीत्यनेनैवावगतत्वात् ॥ *

श्री ब्रह्मसूत्र में सूत्रकार ने भी कहा है :—

जिस प्रकार दीपक अपने तेज से समस्त गृह को आलोकित करता है इसी प्रकार यह जीवात्मा भी अपने चैतन्य-रूप गुण से समस्त देह को प्रकाशित करता है ।

वाजसनेयि-शाखियों ने भी चैतन्य-रूप गुण को नित्य कहा है:—

अरे मैत्रिय ! यह आत्मा (स्वरूप) से अविनाशी है और जो ज्ञानादि चैतन्यगत-धर्म हैं वह भी उच्छेद (नाश)से रहित हैं ।

---

* अनुच्छित्ति (अविनाश) ही धर्म है,इसकी यह व्याख्या नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यह तो 'अविनाशी वा' इसी से सिद्ध है, सुतरां इसकी 'उच्छेदरहिता धर्मा ज्ञानादयो यस्य' ऐसी ही व्युत्पत्ति करनी चाहिये ।

एवं साम्येऽपि वैषम्यमैहिकं कर्म्मभिः स्फुटम् ।
प्राहुः पारत्रिकं तत्तु भक्तिभेदैः सुकोविदः ॥२॥

तथाहि कौथुमाः पठन्ति :—

'यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति' ॥ इति ॥

एवम् अणुत्वादिभिर्जीवानां साम्यमुक्त्वा, अर्थसाधन-हेतुकं वैषम्यमाह–एवमिति । ऐहिकं प्रपञ्चगतं, पारत्रिकं भगवल्लोकगतम् ॥२॥

यथेति । अस्मिन् लोके पुरुषो यथाक्रतुः यादृशं साधनं करोति, तथा इतः प्रेत्य अस्मात् लोकात् परलोकं गत्वा भवति । साधनानुरूपं फलं भजतीत्यर्थः ॥

जीवों में परस्पर स्वरूपगत साम्य होने पर भी साधन से वैषम्य है, वह असमानता दो प्रकार की है तथा दो ही इसके साधन हैं, एक तो कर्म से ऐहिक अर्थात् इस लोक में वैषम्य और दूसरा भक्ति से पारलौकिक अर्थात् परलोक का वैषम्य यह तत्ववादियों का कहना है किन्तु कर्मभूमि यह संसार ही है अतः यहाँ इन दोनों कर्म और भक्ति का प्रारम्भ है । कर्मों से ऐहिक विषमता तो स्पष्ट ही है अर्थात् कोई विशेष प्रतिष्ठाशाली है तो कोई भाग्यहीन, कोई ब्राह्मण है तो कोई शूद्र परन्तु पारलौकिक वैषम्य में कोई वर्ण आश्रम अथवा धन या प्रतिभा का वैशिष्ट्य कारण नहीं है वहाँ केवल भक्तिभेदगत ही तारतम्य है ।

ऐसा ही कौथुमशाखियों का कहना है :—

"इस लोक में पुरुष जैसा साधन करता है वैसा ही उस लोक में जाकर फल प्राप्त करता है ।

स्मृतिश्च :—

'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' ॥ इति ।

शान्ताद्या रतिपर्यन्ता ये भावाः पञ्च कीर्तिताः ।

तैर्दैवं स्मरतां पुंसां तारतम्यं मिथो मतम् ॥३॥

* इति प्रमेयरत्नावल्यां षष्ठ–प्रमेयम् *

यादृशीति गदितार्थम् ॥ उपसंहरति–शान्ताद्या इति । शान्तदास्यसख्यवात्सल्यरतयः पञ्चभावाः । तैर्देवंभजतां वैषम्यं प्रस्फुटम् । ये खलु विष्वक्सेनानुयायिनः 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' [मुण्डक ३ । १ । ३] इति श्रुतेः, मोक्षे जीवानां परमं साम्यं स्वीचक्रुः, तेषामपि वैषम्यं दुष्परिहरं, जीवान् प्रति श्रीदेव्याः शेषित्वाङ्गीकाराद् विष्वक्सेनस्य नियामकत्वस्वीकाराच्च ॥३॥

* *इति प्रमेयरत्नावल्यां जीवतारतम्य–प्रकरणं व्याख्यातम्* *

इसी को स्मृति प्रतिपादन करती है :—

"जिसकी जैसी भावना होती है उसकी सिद्धि भी वैसी होती है ।

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, तथा माधुर्य यह पांच भाव ही भक्ति-शास्त्र में कहे गये हैं इन पाँचों में से किसी एक भाव के द्वारा श्री हरि का स्मरण करते हुए पुरुषों में जिसप्रकार परस्पर तारतम्य है उसी प्रकार जीव में भी तारतम्य है । शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और रति अथवा माधुर्य यह पाँच भाव हैं, यह पाँचों भाव ही परम्परानुक्रमेण एक से एक ऊँचे तथा विकसित हैं ।

* इति प्रमेयरत्नावल्यां षष्ठ-प्रमेयम् *

सप्तम–प्रमेयम्

अथ श्रीकृष्णप्राप्तिरूपमोक्षप्रकरणम्।

यथा :--

'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः'। [श्वेताश्वतर १।१०] इत्यादि।
'एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्यः'। [श्रीगोपालपूर्व २०]इत्यादि च।

बहुधा बहुभिर्वेशैर्भाति कृष्णः स्वयं प्रभुः।
तमिष्ट्वा तत्पदे नित्ये सुखं तिष्ठन्ति मोक्षिणः ॥१॥

* इति प्रमेयरत्नावल्यां सप्तमं-प्रमेयम् *

कृष्णप्राप्तेर्मुक्तित्वं वक्तुमाह–ज्ञात्वेत्यादि गदितार्थम् ॥

बहुधेति। श्रीकृष्णोपासकानामिव श्रीरामाद्युपासकानाञ्च मोक्षः। सुखतारतम्यन्तु अवर्जनीयम् ॥१॥

** इति प्रमेयरत्नावल्यां भक्तेर्मोचकत्वप्रकरणं व्याख्यातम् **

श्रीकृष्ण प्राप्ति ही मोक्ष है यह श्वेताश्वतरउपनिषद् का कहना है:-

श्रीभगवान् को जान लेने पर सब बन्धनों से छुटकारा हो जाता है।

भक्तों के वश में रहने वाले, सर्वव्यापक एकमात्र श्रीकृष्ण ही स्तुति करने योग्य हैं। यह गोपालतापिनी का कहना है।

स्वयं प्रभु श्रीकृष्ण बहुधा श्रीराम नरसिंह आदि अनेक रूपों से विलास करते हैं इसलिये शाश्वत् शान्ति की इच्छा करने वालों को उन्हीं श्री कृष्ण का पूजन करना चाहिये ऐसा करने से वे जीव उन्हींके श्रीचरणों अथवा उन्हींके लोक में सुख (अर्थात् उन्हींकी सेवा से उत्पन्न आनन्द) से रह सकेंगे। श्रीकृष्ण ही परतत्व हैं। यह गोपालतापिनी आदि सब शास्त्रों में प्रतिपादित है।

* इति प्रमेयरत्नावल्यां सप्तम प्रमेयम् *

अष्टम-प्रमेयम्
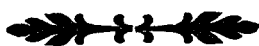
अथैकान्तभक्तेर्मोक्षहेतुत्वप्रकरणम् ।

यथा श्रीगोपालतापिन्याम् :—

'भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनामुष्मिन् मनःकल्पनमेतदेव नैष्कर्म्यम्' ॥ इति ।

[श्रीगोपालपूर्वतापिनी १४]

निष्कामभक्तेर्मुक्तिकरत्वं वक्तुमाह—अथेति । भक्तिरस्येति।अस्य श्रीकृष्णस्य आनुकूल्येन श्रवणादिका भक्तिर्भजनम् । तथा अमुष्मिन् कृष्णे, मनःकल्पनं चित्तानुरञ्जनञ्च । मनः कल्प्यते अनुरज्यते अर्प्यतेऽनेन इति निरुक्तेः । तादृशश्रवणादिहेतुको भावस्तदित्यर्थः। उत्तमात्वसिद्धये-तदिहेति । इह लोके परलोके चोपाधिनैराश्येन कृष्णान्यफलाभिलाषराहित्येन तन्मात्रस्पृहया जायमानमित्यर्थः । एतदेव नैष्कर्म्यमानुसङ्गेन मोक्षकरमित्यर्थः ॥

एकान्त भक्ति ही मोक्ष (भगवच्चरणारविन्दप्राप्ति) का हेतु है यह श्रीगोपालतापिनी में कहा है :—

श्रीकृष्ण का आनुकूल्य से भजन अर्थात् श्रवण कीर्तन आदि करने का नाम है भक्ति, तथा इस लोक में और परलोक (नित्यधाम) में अन्य फल की अभिलाषा से रहित होकर श्रीकृष्ण भगवान् में मन वाणी और प्राण अर्पण कर देना ही नैष्कर्म्य अर्थात् मोक्ष है ।

नारदपञ्चरात्रे च :—

'सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत् परत्वेन निर्मलम् ।
हृषीकेण हृषीकेश-सेवनं भक्तिरुच्यते' ॥ इति ।

नवधा चैषा भवति । यदुक्तं श्रीभागवते :—

'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियतेभगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्' ॥ इति
[७।५।२३-२४]

सर्वोपाधीति । सर्वैरुपाधिभिः कृष्णान्याभिलाषैर्विनिर्मुक्तं, निर्मलं कर्माद्यनाविलं तत्परत्वेनानुकूल्येन विशिष्टम् । हृषीकेण श्रोत्रादिना हृषीकेशस्य सेवनं कायिकं वाचिकं मानसिकं च परिशीलनं भक्तिरित्यर्थः । अत्र उत्तमात्वं स्फुटम्॥

तद्भेदानाह--श्रवणमिति । एषा नवलक्षणा भक्तिरर्पितैव पुंसा क्रियते, न तु कृत्वा अर्पिता । तत्रापि अद्धा साक्षादेव, न तु फलान्तरेच्छाव्यवधानेन क्रियते चेदुत्तममधीतमुत्तमा भक्तिरित्यहं मन्ये ॥

नारदपञ्चरात्र में भी कहा है :—

भोग मोक्षादि अभिलाषाओं को त्याग कर श्रोत्रादि इन्द्रियों द्वारा अनुकूल भाव से ज्ञान कर्म्मादि आवरण-विहीन भगवत् सेवा का ही नाम उत्तमा भक्ति है ।

यह भक्ति नौ प्रकार की है यह श्रीमद्भागवत में कहा है:—

[१] श्रीभगवान् के गुणानुवादों का श्रवण । [२] उनके नाम, रूप गुणों का उच्चस्वर से कीर्तन । [३] उनकी लीलाओं-

सत्सेवा गुरुसेवा च देवभावेन चेद्भवेत् ।
तदैषा भगवद्भक्तिर्लभ्यते नान्यथा क्वचित् ॥१॥

देवभावेन सत्सेवा यथा तैत्तिरीयके :—

'अतिथिदेवोभव'। [१।११।२] इति ।

भक्तिलाभस्य हेतुमाह-सत्सेवेति ॥१॥

देवभावेनेति । अतिथिरनिकेतनो हरिभक्तो देवो हरिवत्पूज्यो यस्य स त्वमीदृशो भव इति शिक्षा ॥

तथा रूप का स्मरण । [४] उनकी चरण सेवा । [५] उनकी सादर सेवा । [६] उनकी वन्दना । [७] उनकी आज्ञा में खड़े रहना अर्थात् दास-भाव । [८] उनसे निःसंकोच मित्रता स्थापन अर्थात् सख्य-भाव । [९] आत्म शब्द वाच्य जितने पदार्थ हैं उनको श्रीप्रभु के समर्पण कर देना । इस नव लक्षणा-भक्ति को श्रीभगवान् के प्रति अर्पण कर देने का ही नाम उत्तमा भक्ति है ।

श्रीकृष्ण कृपाकर हमारे यहाँ पधारे हैं, इस भाव से साधु तथा श्रीगुरुदेव की सेवा करनी चाहिये और इसीसे ही भगवद्भक्ति प्राप्त होती है, अन्य उपायों से नहीं ।

देव-भाव से साधुगणों की सेवा करनी चाहिये यह तैत्तिरीयकोपनिषद में लिखा है :—

अतिथि श्रीहरिवत् पूज्य है, अतः तुम उसका पूजन करो ।

तथा तद्भक्तिर्यथा श्रीभागवते :—
'नैषां मतिस्तावदुरुक्रमांघ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः।
'महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत् यावत्'॥इति।
[७।५।३२]

देवभावेन गुरुसेवा यथा तैत्तिरीयके :—
'आचार्यदेवो भव'। [१।११।२] इति।

नैषामिति प्रह्लादवाक्यम्। एषां वहिर्दृष्टीनां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं न स्पृशति। यस्य मतिकृतस्य तदाङ्घ्रिस्पर्शस्य अर्थः फलम् अनर्थापगमः संसृतिविनाशो भवति। तावत्कियदित्यत्राह-महीयसामिति। निष्किञ्चनानां कृष्णैकधनानां महीयसां साधूनाम् अंङ्घ्रिरजोऽभिषेकं यावन्नवृणीत, परिनिष्ठया यावत् तन्न सेवेत इत्यर्थः॥

आचार्यो मन्त्रोपदेष्टा,स देवो हरिवत् पूज्यो यस्य स त्वमीदृशो भव इति शिक्षा॥

साधु सेवा द्वारा भगवद्भक्ति होती है यह श्रीमद्भागवत में कहा है :—

जब तक सांसारिक जनों की वुद्धि का निष्किञ्चन महत्पुरुषों की चरण रज से अभिषेक (स्नान) नहीं होजायगा तब तक उनकी वुद्धि श्रीभगवान् के भवभयहारी चरणों का स्पर्श नहीं कर सकती जिससे संसार के सारे अनर्थ दूर होजाते हैं।

भगवद्वुद्धि से श्रीगुरु सेवा करनी चाहिये यह तैत्तिरीयकोपनिषद् में कहा है :—

गुरु साक्षात् ईश्वर हैं अतः ईश्वर भाव से गुरू का पूजन करो।

श्वेताश्वतरोपनिषदि च :—

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ [६।२३] इति ।

तथा तद्भक्तिर्यथा श्रीभागवते:—

'तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥
तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः ।
अमाययाऽनुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः' ॥ इति ।
[११।३।२१-२२]

यस्येति । यस्य जिज्ञासोर्यथा देवे परमात्मनि तथा गुरौ च परा भक्तिः स्यात्, तस्यैते अस्यामुपनिषदि कथिता अर्थाः प्रकाशन्ते स्फुरन्ति, नत्वेतद्विपरीतस्य इत्यर्थः ॥

तस्मादिति । उत्तमं श्रेयो जिज्ञासुर्जनो गुरुं प्रपद्येत । कीदृशं ? शाब्दे ब्रह्मणि वेदे, परे ब्रह्मणि श्रीकृष्णे च निष्णातम् । तत्र गुरोरन्तिके स्थितोऽमायया निष्कपटया अनुवृत्त्या सेवया भागवतान् धर्मान् शिक्षेत् । स्फुटार्थमन्यत् ॥

श्वेताश्वतरोपनिषद् में श्रीश्वेताश्वतरमुनि ऋषिगणों से कहते हैं :—

जिसकी ईश्वर में परा अर्थात् अहैतुकी भक्ति हो और उसी प्रकार श्रीगुरुदेव में पराभक्ति हो उसी महात्मा (भाग्यशाली) को इस उपनिषद् में कहे गए इन अर्थ अर्थात् विषयों का वास्तविक प्रकाशन (स्फूर्ति) होगा ।

श्रीगुरुदेव की सेवा द्वारा ही भगवद्भक्ति होती है, यह श्रीमद्भागवत में वर्णित है :—

अवाप्तपञ्चसंस्कारो लब्धद्विविधभक्तिकः ।
साक्षात्कृत्य हरिं तस्य धाम्नि नित्यं प्रमोदते ॥ २ ॥

तत्र पञ्च संस्कारा: यथा स्मृतौ :—

'ताप: पुण्ड्रं तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः ।
अमी हि पञ्च संस्कारा: परमैकान्तिहेतव: ॥ इति ।

अन्यान् भक्तिभेदान् प्रपञ्चयितुमाह-अवाप्तेति । लब्धा विधि-रुचिपूर्वतया द्विविधा भक्तिर्येन सः । नन्वेकस्य भक्तिद्वयलाभो विरुद्ध इति चेत् ? सत्यम्, यस्य यादृशदेशिकसङ्गस्तस्य तादृशभक्तिलाभ:, इति न विरोधः ॥ २॥

ताप इति पाद्मोत्तरखण्डे । अमी तापादय: संस्काराः पञ्च ॥

इसलिए अपना वास्तविक (उत्तम) कल्याण अर्थात् मोक्ष चाहने वाले जिज्ञासु व्यक्ति को उचित है कि वह ऐसे गुरू का समाश्रय करे जो वेद और श्रीकृष्ण के तत्त्व को जानता हो तथा भगवान के ही आश्रित हो ऐसे श्रीगुरूदेव को अपना इष्टदेव समझता हुआ उनके श्रीचरणों में रहकर निष्कपट सेवा द्वारा भागवत-धर्म की शिक्षा ग्रहण करे जिन भागवत धर्मों की शिक्षा से आत्मस्वरूप हरि प्रसन्न होकर अपने आपको दे डालते हैं।

जिन्होंने पांच संस्कार तथा वैधी रागानुगा द्विविधा भक्ति का लाभ किया है वे ही श्रीहरि का साक्षात्कार लाभ कर श्रीहरि के गोलोकादि धाम में नित्य अर्थात् निरन्तर आनन्द से रहते हैं।

ताप, पुण्ड्र, नाम मन्त्र और याग ये पाँच संस्कार परमैकान्तिता अर्थात् प्रेमभक्ति लाभ के एकमात्र हेतु हैं।

तापोऽत्र तप्तचक्रादिमुद्राधारणमुच्यते ।
तेनैव हरिनामादिमुद्रा चाप्युपलक्ष्यते ॥३॥

सा यथा स्मृतौ :-

'हरिनामाक्षरैर्गात्रमङ्कयेच्चन्दनादिना ।
स लोकपावनो भूत्वा तस्य लोकमवाप्नुयात्' ॥ इति ।

पुण्ड्रं स्यादूर्ध्वपुण्ड्रं तच्छास्त्रे वहुविधं स्मृतम् ।
हरिमन्दिरतत्पादाकृत्याद्यतिशुभावहम् ॥

तापादीन् व्याचष्टे । तेनैवेति । तप्तचक्रादिधारणेनैव इत्यर्थः । तप्तचक्रादिधृतिं कलिमलिनमनसां दुष्करां मन्वानः पतितानुद्दिधीर्षुर्भगवान् श्रीकृष्णचैतन्यश्चन्दनादिना श्रीभगवन्नाममुद्राधृतिं प्राचापि स्वीकृतामुपादिक्षत् । सा च पञ्च-संस्कारवाक्ये तप्तचक्रादिधारणेनोपलक्षिता इति भावः ॥ ३ ॥

पुण्ड्रमिति-हरिमन्दिरादितिलकम् । 'तिलकं तमालपत्र'-

यहां तापसंस्कार शब्द का अर्थ तप्त श्रीशंखचक्रादि-मुद्रा धारण है और इसी संस्कार के कारण चन्दनादि द्वारा श्रीहरिनामादि मुद्रा धारण करना भी उपलक्षित है।

चन्दनादि द्वारा अपने शरीरमें श्रीहरिनामादि मुद्रा-धारण करना यह स्मृति में भी लिखा है :—

जो चन्दनादि के द्वारा श्रीहरिनामादि अक्षरों से अपने शरीर को अंकित करता है वह समस्त लोक को पावन करता हुआ श्रीहरि के नित्यलोक को प्राप्त होता है।

ऊर्ध्व-पुण्ड्र (तिलक) को पुण्ड्र कहते हैं इसे शास्त्रों में अनेक प्रकार का कहा है यह ऊर्ध्व-पुण्ड्र श्रीहरि के मन्दिर तथा श्रीहरि के चरण की आकृति आदि वाले अत्यन्त शुभदायक होते हैं।

नामात्र गदितं सद्भिर्हरिभृत्यत्वबोधकम् ।
मन्त्रोऽष्टादशवर्णादिः स्वेष्टदेववपुर्मतः ॥
शालग्रामादिपूजा तु यागशब्देन कथ्यते ।
प्रमाणान्येषु दृश्यानि पुराणादिषु साधुभिः ॥ ३ ॥
नवधा भक्तिर्विधिरुचिपूर्वा द्वेधा भवेद्यया कृष्णः ।
भूत्वा स्वयं प्रसन्नो ददाति तत्तदीप्सितं धाम ॥४॥

चित्रकमुक्तं विशेषकं पुण्ड्रम्']इति हलायुधः । स्फुटार्थमन्यत् ॥३॥

पूर्वत्रोद्दिष्टं भक्तिद्वैविध्यं स्फुटयति-नवधेति । विधिपूर्वा वैधी, रुचिपूर्वा तु रागानुगा, इति हरिभक्तिरसामृतेऽस्य विस्तरः । स्फुटार्थमन्यत् ॥४ ॥

यहाँ नाम शब्द से 'कृष्णदास' 'अच्युतचरण' इत्यादि नाम हैं जिनसे श्रीहरि का सेवकत्व अर्थात् दासपना बोध हो।

अपने इष्टदेव की मूर्ति के समान अष्टादशाक्षर मनु अर्थात् ' मन्त्र–संस्कार ' है तथा श्रीशालग्रामादि का पूजन ही 'याग–संस्कार' है। इस विषय में प्रमाणादि की विशेष जिज्ञासा होने पर अन्यान्य पुराणों को देखना चाहिए ॥ ३ ॥

पूर्व-वर्णित श्रवण कीर्त्तनादि नौ प्रकार की भक्ति, वैधी और रागानुगा भेद से दो प्रकार की होती है, इनमें से किसी एक· का अनुष्ठान करने से श्रीकृष्ण प्रसन्न होकर मनुष्य के उन-उन वांच्छित–धामों में उसे स्थान देते हैं ॥ ४ ॥

विधिनाभ्यर्च्यते देवश्चतुर्बाह्वादिरूपधृत् ।
रुच्यात्मकेन तेनासौ नृलिङ्गः परिपूज्यते ॥५॥

भक्तिभेदस्य भजनीयभेदमाह—विधिनेति । चतुरिति, परमव्योमाधिपतिर्वासुदेवः । चतुर्बाहुरनिरुद्धश्च श्वेतद्वीपपतिः । आदिना अष्टभुजो दशभुजश्चेति ।

'चतुर्भुजः श्यामलाङ्गः श्रीभूलीलाभिरन्वितः । विमलैर्भूषणैर्नित्यैर्भूषितो नित्यविग्रहैः ॥ पञ्चायुधैः सेव्यमानः शङ्खचक्रधरो हरिः' ॥ इति ।

'पीनायताष्टभुजमण्डलमध्यलक्ष्म्या स्पर्द्धच्छ्रियापरिवृतो वनमालयाद्यः' ॥ इति । 'दशबाहुर्महातेजा देवतारिनिसूदनः । श्रीवत्साङ्को हृषीकेशः सर्वदैवतपूजितः' ॥ इति च स्मृतेः ।

नृलिङ्गो यशोदास्तनन्धयः कौशल्यास्तनन्धयश्च इति वेदान्तस्यमन्तकेऽस्य विस्तरः ॥ ५ ॥

जो भक्तगण नव प्रकार की भक्ति विधि-मार्ग अर्थात् विधिपूर्वक (वैधी) करना चाहते हैं वे चतुर्बाहु अष्टबाहु या दशभुजादि-लक्षणान्वित श्यामलाङ्ग लक्ष्मीपति भगवन्नारायणादि भगवन्मूर्त्ति का पूजन करते हैं और जो रुचिमार्ग अर्थात् रागानुगा भक्ति का अनुष्ठान करना चाहते हैं, वे यशोदानन्दन, द्विभुज नवीन नीरद श्याम या द्विभुज दूर्वादल-श्याम कौशल्यानन्दन श्रीराम का पूजन करते हैं ॥५॥

**तुलस्यश्वत्थधात्र्यादि-पूजनं धामनिष्ठता ।
अरुणोदयविद्धस्तु संत्याज्यो हरिवासरः ।
जन्माष्टम्यादिकं सूर्योदयविद्धं परित्यजेत् ॥६॥**

तुलस्यश्वत्थेति । धामनिष्ठता, निष्ठया श्रीमथुरादिधाम-निवासः । सामर्थ्ये सत्येतच्छरीरेण, तदभावे भावनया, इति बोध्यम् । अरुणोदयेत्यादि–हरिभक्तिविलासेऽस्य विस्तरः ॥ ६ ॥

तुलसी, पीपल और आँवले आदि वृक्षों का पूजन तथा श्रीवृन्दावन, मथुरा, गोकुल आदि भगवद्धामों में श्रद्धा सहित निवास करना चाहिये ।

* अरुणोदय के समय दशमी–विद्धा एकादशी का व्रत न करे अर्थात् ५६ घड़ी से अधिक यदि दशमी हो तो उसके दूसरे दिन एकादशी को छोड़ कर द्वादशी को व्रत करे और जन्माष्टमी इत्यादि में सूर्योदय-वेध परित्याग करदे ॥६॥

---

* इन सब एकादशी, महाद्वादशी तथा जन्माष्टमी, जयन्ती तथा चन्दनयात्रा, रथयात्रा आदि पर्वों की विशद-व्यवस्था श्रीगोपालभट्ट-गोस्वामिपादविरचित श्रीहरिभक्तिविलास में सविस्तृत वर्णित है तथा इसी के अनुसार श्रीमाध्वगौडेश्वर-वृन्दों के सुविधार्थ श्रीमाध्वगौडेश्वरपीठ से एक निःशुल्क 'व्रतोत्सव-निर्णय-पत्र' भी निकलता है ।

लोकसंग्रहमन्विच्छन्नित्यनैमित्तिकं बुधः
प्रतिष्ठितश्चरेत् कर्म्म भक्तिप्राधान्यमत्यजन् ॥७॥
दश नामापराधांस्तु यत्नतः परिवर्जयेत् ॥८॥

लोकेति । स्वनिष्ठः परनिष्ठितो निरपेक्षश्च इति त्रिविधो भक्त्यधिकारी । तत्र, स्वनिष्ठः साश्रमः स्वविहितान्यहिंस्राणि कर्माणि आफलोदयं निष्कामः सन् कुर्यादेव । निरपेक्षो हरिनिरतः, तेन मानसिकान्येव हर्यर्चनान्यनुष्ठेयानि । इति निराश्रमस्य तस्य स्वरूपेण कर्मत्यागः । परिनिष्ठितस्तु आश्रमस्थः प्रतिष्ठितो लब्धमहादासनश्चेत् तानि लोकसंग्रहाय कुर्यात् । गौणकाले, भक्तिं तु तात्पर्य्येण अनुतिष्ठेत् । इति सुसूक्ष्मे भाष्ये, श्रीगीता-भूषणे च विस्तृतम् । भक्तिसन्दर्भेऽपि एवमेव विस्तृतं द्रष्टव्यम् ॥७॥

यानादिकृतहरिमन्दिरगमनादयः सेवापराधाः वाराहादौ कथिताः । ते तु सन्ततसेवया मार्जनीयाः स्युरिति ते वर्जनीया एव । ये च नामापराधा दश, पाद्मे दर्शिताः, तेषान्तु सन्ततनामावृत्त्या विमार्जनं स्यात्, तादृशनामावृत्तेश्च दुःशकत्वात् ते दश यत्नात् परिवर्जनीयाः—इत्याह—दश इति । ते च—१-सतां निन्दा । २-श्रीविष्णोः सकाशात् शिवनामादेः स्वातन्त्र्यमननम् । ३-गुर्ववज्ञा । ४-श्रुतितदनुयायि शास्त्रनिन्दा । ५-हरिनाम-महिम्नि अर्थवादमात्रमेतदिति मननम् । ६-तत्र प्रकारान्तरेणार्थ-कल्पनम् । ७-नामबलेन पापे प्रवृत्तिः । ८-अन्यशुभक्रिया-भिर्नाम्ना साम्यमननम् । ९-अश्रद्दधाने विमुखे च नामोपदेशः । १०-श्रुतेऽपि नाम्नो माहात्म्ये तत्रा प्रीतिः । इति । ते चैते सनत्कुमा-रेण नारदं प्रति उपदिष्टा बोध्याः ॥ ८ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य को उचित है कि संसार में रह कर

संसार के सब कार्यों का समाधान करने के साथ २ भक्ति के प्रधान अंगों का अनुष्ठान करता हुआ नित्य नैमित्तक कार्यों को करे ॥७॥

सेवापराध तो सेवा में लगे रहने ही से मार्जित हो जाते है, परन्तु नामापराध होने पर उनका मार्जन होना बहुत कठिन है अतः इन दश नामापराधों को यत्न-पूर्वक छोड़ दे।

दश नामापराध यह हैं :—

१—अपने सम्प्रदाय के आचार्य वैष्णवादिकों की निन्दा न करे।

२—श्रीविष्णु के नामों से श्रीशिव के नाम स्वतन्त्र मुक्ति के प्रदाता हैं, ऐसा न माने श्रीभगवान् के ही नाम में सर्व-शक्ति है, ऐसा माने।

३—'श्रीगुरुदेव की आज्ञा ही सर्वोपरि है' ऐसा माने। श्रीगुरु-आज्ञा की कभी अवहेलना न करे।

४—वेद और उनके अनुयायि वैष्णव-शास्त्रादि की कभी निन्दा न करे तथा श्रीवैष्णव-शास्त्रों का वेदों के समान ही सम्मान करे।

५—श्रीहरिनाम की अनेक शास्त्रों में 'तारयेत् कृष्णनाम' इत्यादि जो अशेष महिमा गाई गई है उनको केवल अत्युक्तिमात्र न समझे, उनमें यथार्थतः ऐसी शक्ति है ऐसा ही जाने।

६—श्रीहरिनाम-माहात्म्य अथवा श्रीकृष्ण नाम का अन्य प्रकार से अर्थ न करे, जो शास्त्र में लिखा है वही कहै, और उसी पर दृढ विश्वास हो नाम ले।

७—नाम लेने से सब पाप की निवृत्ति हो जाती है, यह समझ

कृष्णावाप्तिफला भक्तिरेकान्तात्राभिधीयते ।
ज्ञानवैराग्यपूर्वा सा फलं सद्यः प्रकाशयेत् ॥ ६ ॥

* इति प्रमेय-रत्नावल्यां अष्टमं-प्रमेयम् *

उपसंहरति—कृष्णेति । एकान्तेति । तदन्यफलतायान्तु अनेकान्तता इत्यर्थः । सा चेत् ज्ञानादिपूर्वा स्यात्, तदा कृष्णावाप्ति-लक्षणं फलं सद्यस्त्वरया प्रकाशयेत्, अन्यथा तु विलम्बेन । 'तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया । पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया' ॥ इत्यादिस्मृतेः । ज्ञानं शास्त्रीयम् ॥६॥

इति प्रमेयरत्नावल्यां विशुद्धभक्तेर्मुक्तिप्रदत्वप्रकरणं व्याख्यातम् ॥

कर जान-बूझ कर पाप या असदाचार कभी न करे। जो अज्ञान में पाप या अपराध हो जायँ उनके क्षमा करने की भगवान् से प्रार्थना करे।

८—अन्य शुभ दान धर्मादि के समान ही श्रीहरिनाम है, ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि नाम में अपूर्व शक्ति है सुतरां नाम जप अथवा संकीर्तन करे।

६—जिसकी श्रीहरिनाम में दृढभक्ति न हो या श्रीहरिनाम से विमुख हो अर्थात् उपहासादि करता हो उसे श्रीहरिनामोपदेश न करे।

१०—नाम-माहात्य के सुनने पर भी श्रीहरिनाम में रुचि न होना ॥८॥

'एकान्तभाव से श्रीकृष्णप्राप्ति ही प्रयोजन है' ऐसी भक्ति ही सर्वोच्चहै, परन्तु इसमें ज्ञान और वैराग्य की अत्यन्त आवश्यकता है, बिना इनके शीघ्र फल नहीं होता।

* इति प्रमेय-रत्नावल्यां अष्टमं-प्रमेयम् *

नवम-प्रमेयम्

अथ प्रमाणत्रित्वप्रकरणम् ।

अथ प्रत्यक्षानुमानशब्दानामेव प्रमाणत्वम्

यथा श्रीभागवते :—

'श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम्'॥ इति ।
[११ । १६ । १७]

त्रीण्येव प्रमाणानि इति वक्तुमाह—अथ प्रत्यक्षेति । प्रमाणानां त्रित्वमत्र प्रमेयम् । एवकारादेतदन्येषामुपमानादीनामेषु त्रिष्वन्तर्भावान्नाधिक्यमिति वेदान्तस्यमन्तके प्रमाणनिरूपणे द्रष्टव्यम् । श्रुतेः प्राधान्यमभिप्रेत्य पूर्वं तामाह—श्रुतिरिति ॥

प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द यह तीन ही प्रमाण हैं ।

श्रीमद्भागवत में कहा है :—

श्रुति, प्रत्यक्ष *ऐतिह्य और अनुमान यह चार प्रमाण हैं ।

* ऐतिह्य को श्रीमध्वाचार्यपाद ने प्रत्यक्ष के अन्तर्गत ही मानकर तीन ही प्रमाण माने हैं ।

प्रत्यक्षेऽन्तर्भवेद् यस्मादैतिह्यं तेन देशिकः ।
प्रमाणं त्रिविधं प्राख्यत् तत्र मुख्या श्रुतिर्भवेत् ॥१॥
प्रत्यक्षमनुमानञ्च यत्साचिव्येन शुद्धिमत् ।
मायामुण्डावलोकादौ प्रत्यक्षं व्यभिचारि यत् ॥२॥
अनुमाऽचातिधूमेऽद्रौ वृष्टिनिर्वापिताग्निके
अतः प्रमाणं तत्त्वच स्वतन्त्रं नैव मम्मतम् ॥ ३॥

नन्वैतिह्यमधिकं पठितं, त्रयं प्रमाणं कथमितिचेत्? तत्राह-प्रत्यक्षेऽन्तरिति । अनिर्दिष्टवक्तृकतागतपारम्पर्य्यप्रसिद्ध-मैतिह्यम् । यथा 'इह वटे यक्षो निवसति' इति । तच्चादिमेन पुंसा दृष्टत्वात् प्रत्यक्षान्तर्गतमिति त्रयमेव प्रमाणम् । देशिको-मध्वमुनिः । मनुश्चैवमाह :—

'प्रत्यक्षं चानुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम् । त्रयं सुविदितं कार्य्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता' ॥ [१२ । १०५] इति ।
तत्र त्रिषु प्रमाणेषु मध्ये, श्रुतिस्त्वपौरूषेयवाक्यसंहतिर्मुख्या भवेत्, परमार्थप्रमापकत्वात् ॥ १ ॥

मुख्यत्वं दर्शयितुमाह–प्रत्यक्षमिति । यत् साचिव्येन यस्य शब्दस्य साहाय्येन शुद्धिमत् प्रमाजनकम् । यथा दृष्टचरमाया-मुण्डस्य पुंसः भ्रान्त्या सत्येऽप्यविश्वस्ते तदेवेदमित्याकाशवाण्या प्रत्यक्षं परिशुद्धम् । यथा च 'भोः शीतार्ताः पथिकाः! माऽस्मिन् वह्निं सम्भावयत, दृष्टं मया वृष्ट्याऽत्राधुना सनिर्वाणः ।

किन्तु अस्मिन् धूमोद्गारिणि शैले सोऽस्ति' इत्यनुमानञ्च परिशुद्धम्। स्वतन्त्रे तु ते सव्यभिचारे भवत इत्याह-मायेति। यथा मायावी किञ्चन मुण्डं मायया दर्शयित्वा आह-'चैत्रस्य मुण्डमिद' मिति। न च तत्तस्य। इति प्रत्यक्षस्य व्यभिचारः। वृष्ट्या तत्क्षणनिर्वापितवह्नौ चिरमधिकोदित्वरधूमे शैले 'वह्निमान् धूमवत्त्वात्' इत्यनुमानस्य व्यभिचारः। नेत्रज्वालाकरत्वादिधूमलक्षणं चात्रास्त्येव। अत इति स्फुटार्थम्॥ २-३॥

श्रीमद्भागवत में ऐतिह्य नामक एक अतिरिक्त प्रमाण स्वीकार किया है परन्तु और शास्त्रों ने ऐतिह्य नामक प्रमाण को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मानकर प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द यह तीन ही प्रमाण माने हैं। इन तीन प्रमाणों में श्रुति-रूप शब्द ही प्रधान प्रमाण है क्योंकि लोक में प्रत्यक्ष और अनुमान बिना श्रुति अर्थात् शब्द की सहायता से शुद्ध नहीं होते। जिस प्रकार बाजीगर माया के बने हुए मिथ्या-मस्तक को दिखाकर उसके द्वारा बातचीत करा देता है और वह सम्पूर्ण कार्य्य प्रत्यक्ष में प्रकृत दिखलाई पड़ता है किन्तु वास्तव में वह मिथ्या ही है, एवं इसी प्रकार पर्वत में तात्कालिक वर्षा से बुझी हुई अग्नि से बहुत देर तक धुआँ निकला करता है उस धुआँ द्वारा अग्नि का वास्तविक अनुमान बिना विचक्षण-व्यक्तियों के साधारण मनुष्यों के लिये केवल भ्रम ही हो सकता है जब यह दोनों प्रमाण ही लोक में शब्द के बिना व्यभिचारी हैं तब पारमार्थिक जगत् में केवल श्रुति-रूप अपौरषेय शब्द ही प्रमाणत्वेन ग्रहीत हैं॥ २-३॥

अनुकूलो मतस्तर्कः शुष्कस्तु परिवर्जितः ॥४॥

तथाहि वाजसनेयिनः ।—

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' ॥इति।
[बृह० २।४।५]

तर्ह्यनुमानं परित्याज्यमितिचेत् ? तत्राह—अनुकूल इति । श्रुत्यर्थपोषकोऽनुकूलः । तद्विरोधी तु प्रतिकूल इत्यर्थः । तर्कस्य व्याप्तिग्रहे शङ्कानिवर्तकत्वेनानुमानाङ्गकत्वात् तदस्वीकारेण तदङ्गिनोऽनुमानस्याप्यस्वीकारो बोध्यः ॥ ४ ॥

अनुकूलतर्काङ्गीकारे श्रुतिमाह—आत्मेति । अरे मैत्रेयि ! आत्मा हरिर्द्रष्टव्यः साक्षात्कर्तव्यः । तत्र साधनमाह—श्रोतव्यः, वैदिकगुरुमुखात् श्रोत्रेण ग्राह्यः । मन्तव्यः, वेदानुयायिना तर्केण निश्चेतव्यः । निदिध्यासितव्यो ध्यातव्यः । अत्र ध्यानमेव विधेयमप्राप्तत्वात् स्वाध्यायविधिप्राप्तत्वात् श्रवणस्य तत्प्रतिष्ठार्थत्वान्मननस्य चानुवाद एव ॥

अनुमान श्रुति के अर्थ के अनुकूल है और वही प्रमाणरूप में ग्राह्य है जो इसके विरोधी हैं वे त्याज्य हैं ।

'अनुकूल तर्क ग्राह्य है' यह वाजसनेयी कहते हैं :—

अरे मैत्रेयि ! आत्मा अर्थात् श्रीहरि का साक्षात्कार करना उचित है और वह तीन साधनों से होते हैं । पहिले श्रीगुरुदेव के मुख से श्रवण तदनु उसके अनुसार उसका मनन अर्थात् वेदानुकूल तर्क (अनुमान) तथा निदिध्यासन अर्थात् ध्यान में प्रत्यक्ष करना चाहिये ।

काठकाः :—

'नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येन सुज्ञानाय प्रेष्ठ' ॥ इति ।

स्मृतिश्च :— [२१६]

'पूर्वापराविरोधेन कोऽत्रार्थोऽभिमतो भवेत् ।
इत्याद्यमूहनं तर्कः शुष्कतर्कन्तुवर्ज्जयेत्' ॥ इति ।

प्रतिकूलतर्कत्यागे श्रुतिमाह-नैषेति । हे प्रेष्ठ ! हे नचिकेत ! एषा ब्रह्मज्ञानार्हा मतिस्त्वया शुष्केण तर्केण नापनेया न भ्रंशनीया । तर्हि मे ज्ञानं कथं भवेत् ? तत्राह-प्रोक्तेति । अन्येन वैदिकेन गुरुणा प्रोक्ता उपदिष्टा सती सा सुज्ञानाय प्रमायै भाविनी इत्यर्थः ॥

उक्तां व्यवस्थां प्रमाणयति-पूर्वापरेति ॥

इसी को कठशाखिगण कहते हैं :—

प्रिय नचिकेत ! इस ब्रह्मोपासनयोग्य-बुद्धि को शुष्क तर्क से मत नष्ट करो, यह बुद्धि वैदिक-गुरुगणों द्वारा उपदिष्ट होकर ब्रह्मानुभव प्रदान करती है ।

स्मृति में भी कहा है :—

'पूर्वापर विरोध होने पर कौन सा अभिमत (सिद्धान्त) मत है' इस उहापोह का नाम है तर्क, ऐसा तर्क तो अवश्य करना चाहिये, जिसके द्वारा ज्ञान की अभिवृद्धि हो, परन्तु शुष्क अर्थात् विना किसी आधार के केवल तर्क को न करे ।

नावेदविदुषां यस्माद् ब्रह्मधीरुपजायते ।
यच्चौपनिषदं ब्रह्म तस्मान्मुख्या श्रुतिर्मता ॥९॥

तथाहि श्रुतिः :—

'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' ॥ इति ।

'औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' ॥ इति च ।

[बृह० ३।९।२६]

* इति प्रमेय-रत्नवल्यां नवमं प्रमेयम् *

अन्वयव्यतिरेकाभ्याञ्च श्रुतेः प्राधान्यं दर्शयन् उपसंहरति- नावेदेति । अवेदविदुषां वेदज्ञानरहितानां तार्किकादीनां यस्माद् ब्रह्मधीर्नोपजायते, इति व्यतिरेकः । यच्चौपनिषदं ब्रह्म, इत्यन्वयश्च ॥९॥

नावेदेत्याद्युक्तार्थम् ॥

इति प्रमेय-रत्नावल्यां प्रमाणत्रित्व-प्रकरणं व्याख्यातम् ।

इसलिये वेद को जो नहीं जानते हैं अर्थात् केवल तर्क के वल से जो तत्व जानना चाहते हैं उनकी ब्रह्म में कभी मति (ब्रह्मज्ञान) नहीं होसकती क्योंकि ब्रह्म उपनिषद् प्रतिपाद्य है इससे श्रुति ही मुख्य प्रमाण है ।

श्रुति में भी कहा है :—

वेदज्ञानविहीन-पुरुष परमात्मा को नहीं जान सकता ।

हम उपनिषदों से प्रतिपाद्य-पुरुष को पूछते हैं ।

* इति प्रमेय-रत्नवल्यां नवमं प्रमेयम् *

एवमुक्तं प्राचा :—

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतमः सत्यं जगत्तत्त्वतो ।
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः ॥
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधन-
मक्षादि त्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥१॥ इति।

यानि अस्मत् पूर्वाचार्येण प्रमेयान्युपात्तानि तान्येवात्र मयापीत्याह—एवमुक्तं प्राचेति । श्रीमदति । अनुचराः दासाः, नित्याश्च । नीचोच्चभावं साधनभेदैः फलतारतम्यम् । मुक्तिर्नैजेति । 'मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः'। [२।१०।६] इति श्रीभागवतात् । वैमुख्यरचितं देवमानवादिभावं तत्साम्मुख्येन हित्वा, साक्षात्कृतेन चित्सुखेन विज्ञातृणा स्वरूपेण स्थितिर्मुक्तिरित्यर्थः । अणुविज्ञानसुखं विज्ञातृहरेर्दासभूतं जीवस्य नैजं रूपम् । दास्यञ्च तदङ्घ्रिलाभाविनाभूतमिति 'मोक्षं विष्णवङ्घ्रिलाभम्' इत्यनेनाविरुद्धम् । विकसितार्थमन्यत् ॥१॥

ऐसा ही प्राचीनाचार्यों ने कहा है:—

* श्रीमध्वाचार्य के मत में (१) श्रीहरि ही परतम हैं, (२) जगत् में तात्विक सत्यता है, (३) जीव और ईश्वर का भेद सत्य है, (४) जीव सब श्रीहरि के दास हैं, (५) जीव अपने साधनों से उत्कर्ष और अपकर्ष को प्राप्त होता है, (६) जीव में भगवद्दासत्व की अनुभूति होना ही मुक्ति है, (७) अहैतुकी भक्ति ही मुक्ति का साधन है, (८) प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द यह तीन ही प्रमाण हैं, और (९) सब शास्त्रों से श्रीहरि ही वेद्य अर्थात् जाने जाते हैं ।

---

* प्राचीनाचार्यचरणों के निश्चित किये हुये श्रीमध्वाचार्य के

आनन्दतीर्थैं रचितानि यस्यां प्रमेयरत्नानि नवैव सन्ति ।
प्रमेयरत्नावलिरादरेण प्रधीभिरेषा हृदये निधेया ॥२॥

नित्यं निवसतु हृदये चैतन्यात्मा मुरारिर्नः ।
निरवद्यो निर्वृतिमान् गजपतिरनुकम्पया यस्य ॥३॥

इति श्रीगोविन्दगान्धर्विकानुरागावतार भगवच्छ्री-
कृष्णचैतन्यचन्द्रचरणानुचर श्रीविश्वनाथ-
चक्रवर्तिचरणान्तेवासि श्रीवलदेव
विद्याभूषणविरचिता प्रमेय-
रत्नावली पूर्तिमगात्

ग्रन्थमुपसंहरंस्तस्योपादेयत्वमाह–आनन्देति स्फुटार्थम् ॥२॥ अन्तेऽपि हृदि स्वाभीष्टस्फुरणं मङ्गलमाचरति–नित्यमिति अत्र श्रीकृष्णः श्रीकृष्णचैतन्यः स्वपूर्वचतुर्थो रसिकमुरारिश्च इति त्रयःप्रति-पाद्यन्ते। प्रथमपक्षे चैतन्यात्मा चिद्विग्रहः। गजपतिर्ग्राहग्रस्तो गजेन्द्रः।

भगवच्छ्री आनन्दतीर्थ (श्रीमन्मध्वाचार्य्य) द्वारा रचित अर्थात् स्वीकृत नौ प्रमेयों के अनुसार ही जिसमें नौ प्रमेय रूपी रत्न हैं, ऐसी यह 'प्रमेय-रत्नावली' विद्वानों को सादर हृदय में धारण करनी चाहिये ।

नव प्रमेयों के अनुसार ही श्रीविद्याभूषणजी ने नौ प्रमेय निश्चित तथा सिद्ध किये हैं ।

द्वितीये चैतन्यनामा आत्मा विग्रहः शच्यां जगन्नाथमिश्रात् प्रकटः। गजपतिः प्रतापरुद्रो नृपतिः। तृतीये चैतन्यात्मा शचीसूनुनिविष्ट-चित्तः। गजपतिर्गोपालदासाख्यः करी॥

वेदान्तवागीशकृतप्रकाशा प्रमेयरत्नावलिकान्तिमाला।
गोविन्दपादाम्बुजभक्तिभाजां भूयात्सतां लोचनरोचनीयम्॥

इति प्रमेय-रत्नावल्यां कान्तिमाला टिप्पणी सम्पूर्णा।

जिनकी कृपा से ग्राहग्रस्त गजेन्द्र अखण्ड मोक्ष का अधिकारी हुआ वह चैतन्य-स्वरूप मुरारि (श्रीकृष्ण) अथवा जिनकी करुणा से गजपति प्रतापरुद्र (उत्कलाधिपति) को शाश्वत सुख प्राप्त हुआ वह मुरारिगुप्त (कपीन्द्रावतार) सहित श्रीचैतन्यचन्द्र अथवा जिनकी अनुकम्पा से गोपालदास नामक गज (हाथी) सब पापों से मुक्त होकर नित्य-सेवा में प्राप्त हुआ ऐसे चैतन्य-स्वरूप (चैतन्य ही है आत्मा जिनकी) रसिकमुरारि मेरे (श्रीविद्याभूषणजी के) परमेष्ठी गुरु हमारे हृदय में निवास करें।

कृष्णजन्मदिने चन्द्रे सप्ताङ्काङ्केन्दुकेऽब्दके।
सार्वभौमप्रसादेन भाषेयं पूर्णतामगात्॥

उनविससै सत्तानवै कृष्णजन्मदिन चन्द।
सार्वभौम अनुभावतें भाषा भई भवभिन्द॥

इति प्रमेय-रत्नावली सम्पूर्णा